साहित्य और राजनीति का अन्तः सम्बन्ध : दलित कविताओं के विशेष सन्दर्भ में

SAHITYA AUR RAJNITI KA ANTAH SAMBANDH : DALIT KAVITAON KE VISHESH SANDARBH MEIN

(INTER RELATION BETWEEN LITERATURE AND POLITICS: IN THE SPECIAL CONTEXT OF DALIT POETRY)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की एम.फिल (हिंदी)
उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध

शोध–निर्देशक
डा० रामचन्द्र

शोधार्थी
विशेष कुमार राय

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–११००६७

२०१२

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

Centre of Indian Languages

School of Language, Literature & Culture Studies

New Delhi-110067, India

Dated: 27/07/2012

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled **'SAHITYA AUR RAJNITI KA ANTAH SAMBANDH : DALIT KAVITAON KE VISHESH SANDARBH MEIN' (INTER RELATION BETWEEN LITERATURE AND POLITICS: IN THE SPECIAL CONTEXT OF DALIT POETRY)** submitted by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

Vishesh Kumar Rai

VISHESH KUMAR RAI
(Research Scholar)

27.07.12

DR. RAM CHANDRA
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Rambux

PROF. RAMBUX JAT
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, TEL : (91-011) 26717676, 267717557, EXTN. : 4217,(D) 26704217 FAX : (91-011) 2617603, 26717586

'अभी तक का इतिहास बताता है कि दुनिया में
जो भी
ग़लतियां हुई हैं, वह समझदार लोगों ने की हैं,
अब
उन्हें समझदार लोग ही ठीक कर रहे हैं।
और
दलितों–उत्पीड़ितों ने तुम्हारा 'वसुधैव कुटुम्बकम'
समझा है, वे तुम्हारा 'ग्लोबल विलेज'
भी समझ रहे हैं।'

विषयानुक्रमणिका

आभार

प्रस्तावना

अध्याय–1: साहित्य और राजनीति का अन्तःसम्बन्ध **1–22**

1.1 साहित्य की विचार दृष्टि

1.2 राजनीति के निहितार्थ

1.3 साहित्य और राजनीति

अध्याय–2: दलित साहित्य, आंदोलन व दलित राजनीतिः इतिहास, दृष्टि व निहितार्थ **23–59**

2.1 दलित आंदोलन की पृष्ठभूमि

2.2 दलित आंदोलन की वैचारिकी

2.3 दलित राजनीति

2.4 दलित साहित्य और दलित राजनीति

अध्याय–3: दलित साहित्य की अवधारणा व दलित कविता **60–98**

3.1 दलित साहित्य की अवधारणा

3.2 दलित कविता : कारण व दृष्टि

3.3 दलित कविता : उद्भव और विकास

3.4 दलित कविता का सौन्दर्यशास्त्र

अध्याय–4: दलित कविता व दलित राजनीति के अन्तःसम्बन्धों की पड़ताल **99–158**

4.1 वर्ण व्यवस्था विरोधी आंदोलन और दलित कविता

4.2 भागीदारी की राजनीति और दलित कविता

4.3 व्यवस्था विनाश की राजनीति और दलित कविता

4.4 सत्ता की राजनीति और आधुनिक दलित कविता

4.5 दलित कविता व दलित राजनीति : मुक्ति का महाआख्यान

सिंहावलोकन **159–161**

आधार, सन्दर्भ व सहायक ग्रंथ सूची **162–171**

प्रस्तावना

प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध का विषय 'साहित्य और राजनीति का अन्तः सम्बन्धः दलित कविताओं के विशेष सन्दर्भ में' है। इस शोध के माध्यम से साहित्य और राजनीति के अन्तः सम्बन्ध के बरक्स दलित कविता व दलित राजनीति के अन्तःसम्बन्ध पर विचार करने की कोशिश की गई है। जैसा कि हम जानते हैं साहित्य और राजनीति में गहरा सम्बन्ध होता है। दोनों एक–दूसरे को प्रेरित–प्रभावित करते हैं। इसी क्रम में दलित कविता व दलित राजनीति ने एक–दूसरे को प्रेरणा एवं मज़बूती प्रदान की है। उत्पीड़न का इतिहास जितना पुराना है, उतना पुराना इतिहास उसके प्रतिरोध का भी है। धीरे–धीरे यह प्रतिरोध मुखर होता गया और इसी प्रतिरोध की परम्परा से आधुनिक दलित कविता और दलित राजनीति का जन्म हुआ।

अगरचे 'दलित' शब्द के इस्तेमाल की शुरूआत मराठी दलित साहित्य–आंदोलन में लगभग 1972 ई० से शुरू हुई, किन्तु इसके पीछे प्रतिरोध और संघर्ष की जो लम्बी परम्परा है उसे यहाँ, उसकी सीमाओं के साथ दलित दृष्टि से देखने की कोशिश की गई है। चुनांचे ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति तथा उसकी वर्ण–जाति व्यवस्था के प्रतिरोध में खड़े हुए आन्दोलनों एवं उस दौरान रची गई कविता को आज की दलित कविता व दलित राजनीति के साथ रखकर, दलित दायरे में देखने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन में सुगमता की दृष्टि से प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध को चार अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहले अध्याय 'साहित्य और राजनीति का अन्तः सम्बन्ध' में साहित्य की विचार दृष्टि और राजनीति के निहितार्थ ढूँढ़ने के साथ साहित्य और राजनीति के अन्तः सम्बन्ध पर विचार करने की कोशिश की गई है। क्या साहित्य सिर्फ़ आनन्द के लिए और राजनीति केवल सत्ता प्राप्ति के लिए होती है, या इन्हें सोचने–समझने के साथ सामाजिक परिवर्तन का ज़रिया भी बनाया जा सकता है? इस अध्याय में ऐसे सवालों से दो–चार होने की कोशिश की गई है।

दूसरे अध्याय 'दलित साहित्य आंदोलन व दलित राजनीतिः इतिहास, दृष्टि व निहितार्थ' में वर्ण जाति व्यवस्था के प्रतिरोध में शुरू हुए आन्दोलन, जो कि परिवर्तित–विकसित होते हुए ज्योतिबा फूले तक पहुँचता है, की पड़ताल करने का प्रयास किया गया है। किसी भी आन्दोलन को चलाने के लिए विचार की ज़रूरत होती है। आन्दोलन यदि मुक्ति का हो, तो यह ज़रूरत और बढ़ जाती है। दलित आन्दोलन की जड़ में कौन से विचार खाद–पानी का काम कर रहे हैं, यहाँ उन विचारों के शिनाख़्त की कोशिश की गई है। दलित आन्दोलन से ही दलित राजनीति का जन्म हुआ है। डॉ० आम्बेडकर ने दलित सवालों को राजनीतिक सवालो में बदला। उन्होंने बड़ी साफ़गोई से कहा था किः "हम यह महसूस करते हैं

कि जब तक दलित वर्गों के हाथ में राजनीतिक सत्ता नहीं आती, उनकी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। यह सत्य है और हमारे विचार में इसके अलावा और कुछ सत्य को हो ही नहीं सकता कि दलित वर्गों की समस्या मुख्य रूप से एक राजनीतिक समस्या है और उसे ऐसा ही माना जाना चाहिए।"[1]

इतिहास में पहली मर्तबा दलितों के सवालों को डॉ0 आम्बेडकर ने राजनीतिक दायरे में रखकर देखा। इस तरह दलित आंदोलन यहाँ से राजनीतिक आन्दोलन में तब्दील हो जाता है। चुनांचे यहाँ दलित राजनीति पर विचार करने की कोशिश के साथ दलित साहित्य और दलित राजनीति के सम्बन्धों की तलाश का प्रयास किया गया है।

दलित साहित्य में दलित कविता महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वह पुरानी विधा में लगातार नए विचार प्रकट कर रही है। तीसरे अध्याय 'दलित साहित्य की अवधारणा व दलित कविता' में दलित साहित्य की अवधारणा पर विचार किया गया है। इसके साथ ही दलित कविता की छानबीन की गई है। दलित कविता क्या है? वह क्या सोचती–समझती है? दुनिया को लेकर उसका नज़रिया क्या है? उसका उद्भव और विकास कैसे हुआ है? शोधार्थी इस अध्याय में इन सवालों से रूबरू हुआ है। दलित कविता ने प्रचलित सौन्दर्यशास्त्र पर सवालिया निशान लगाए हैं। उसके अनुसार मुख्यधारा का सौन्दर्यशास्त्र सामन्ती है, उसमें दलित जीवन नहीं समा सकता। चुनांचे दलित कविता के सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण की प्रक्रिया तेज़ है। यहाँ दलित कविता के सम्भावित सौन्दर्यशास्त्र की पड़ताल की गई है।

दलित कविता, दलित आंदोलन व राजनीति से जुड़ी रही है। एक–दूसरे को प्रेरित–प्रभावित करते हुए इनका विकास हुआ है। चौथे अध्याय 'दलित कविता व दलित राजनीति के अन्तः सम्बन्धों की पड़ताल' में दलित कविता व दलित राजनीति के अन्तः सम्बन्ध की पड़ताल का प्रयास किया गया है। जैसा कि हम जानते हैं दलित आन्दोलन से ही दलित राजनीति का उद्भव व विकास हुआ है, चुनांचे इस अध्याय में दलित राजनीति के पहले चल रहे दलित आंदोलनों एवं उस दौरान रची गई कविता के सम्बन्धों की खोजबीन की गई है।

दलित कविता व दलित राजनीति ने तमाम विवादों–विरोधों के बीच खुद को स्थापित किया है। आज वे एक निर्णायक स्थिति में आ पहुँची हैं। इससे दलितों की स्थिति में परिवर्तन आया है। दलित कविता मुक्ति की बात करती है, तो दलित राजनीति सामाजिक परिवर्तन की। इस शोध के ज़रिए शोधार्थी ने यह पड़ताल करने की कोशिश की है कि मुक्ति और सामाजिक परिवर्तन को लेकर दलित

---

[1] सं0 श्री कैलाश चन्द्र सेठ, श्रीमती भारती नरसिंहमनः बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्मय खंड–5, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2011, पृ0 संख्या 18

कविता व दलित राजनीति का क्या रवैया है। साहित्य और राजनीति की प्रवृत्ति होनी चाहिए जो है उससे बेहतर की तलाश और अमानवीय का विरोध। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण साहित्य और राजनीति समाज से गहरे जुड़ते है। इसी क्रम में दलित कविता व दलित राजनीति समाज से गहरे जुड़े हैं।

इस शोध में यह जानने का प्रयास किया गया है कि साहित्य और राजनीति की बेहतरी और अमानवीयता विरोधी प्रवृत्ति के बरक्स दलित कविता व दलित राजनीति कहाँ ठहरते हैं?

अक्सर दलित कविता को जातिवादी–अलगाववादी कहकर नकारा जाता रहा है। अब दलित राजनीति को सत्ता की राजनीति करने वाली कहा जा रहा है। इस शोध के द्वारा यह जानने का प्रयास किया गया है कि दलित कविता के नकार एवं उसके ऊपर लगाये जा रहे आरोपों का सच क्या है? और दलित राजनीति की जो भी कमियां या सीमाएं बताई जा रही हैं, क्या वह सिर्फ़ दलित राजनीति की कमियाँ या सीमाएं हैं या वर्तमान लोकतांत्रिक पद्धति में प्रचलित मुख्यधारा की राजनीति में ही खोट है? क्योंकि आज जिसे अस्मितामूलक साहित्य और राजनीति कहकर नकारा जा रहा है, उसके सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पहलू हैं। यहाँ उन दोनों पहलुओं को देखने की कोशिश की गई है। अन्ततः शोधार्थी ने यह जानने की कोशिश की है कि दलित कविता व दलित राजनीति मुक्ति का महाआख्यान हैं या अलगाव का साहित्य और राजनीति।

अध्याय 1

साहित्य और राजनीति का अन्तःसम्बन्ध

1.1साहित्य की विचार दृष्टि

साहित्य की प्रवृत्ति होनी चाहिए जो है उससे बेहतर की तलाश और अमानवीय का विरोध प्रतृत्यः सभी जन कलाएं मानव हितैषी होती हैं किन्तु सत्ता के लोग व सत्ता की विचारधारा उसे जन विरोधी बना देते हैं। ब्राह्मणवादी कला–साहित्य की यही गति है। साहित्य बहुसंख्यक जनता के लिए लिखा जाना चाहिए। जो साहित्य बहुसंख्यक जनता की बात नहीं करता, वह साहित्य नहीं है, चाहे वह कितना भी कलात्मक क्यों ना हो? साहित्य का काम है समाज की जटिलता को पकड़न। चुनांचे जैसे–जैसे समाज में जटिलता बढ़ती है ठीक वैसे ही साहित्य की गतिशीलता भी। जब एक खास समय में सामाजिक संरचना परिवर्तित होती है तो साहित्य में भी बदलाव आता है। जब जीवन बदला तो साहित्य का ढांचा भी बदला। जब जीवन एक रेखीय था तो साहित्य भी एक रेखीय था। जैसे ही शोषण बहुमुखी हुआ ठीक वैसे ही उससे लड़ने के लिए साहित्य का ढांचा भी बहुमुखी हुआ। पहले महाकाव्यों में जीवन की जटिलता समा सकती थी, लेकिन जब जीवन का प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण हो गया तो इसका जिम्मा गद्य संभालता है। दरअसल साहित्य के अंतर्विरोध, समाज के अंतर्विरोधों को दर्शाते हैं। गिओर्गी प्लेखानोव के शब्दों में: "किसी युग के साहित्यिक विकास के अन्तर्विरोध हमेशा ही सामाजिक अन्तर्विरोधों तथा वर्गों की दृष्टियों, अवस्थितियों और संघर्षों को अभिव्यक्त करते हैं।"[1]

साहित्य के सामाजिक होने के पक्ष में खड़े इन तर्कों के अलावा एक दूसरी दृष्टि भी है जो 'कला–कला के लिए' की हिमायती है। कलावादी विचारकों का तर्क है कि कला का कोई सामाजिक उत्तरदायित्व नहीं होता। वह केवल आनंद की वस्तु भर है। आदमी ने कोई भी चीज़ बिना ज़रूरत के इज़ाद नहीं की। हर चीज़ के पीछे उसका कुछ मकसद रहा है। इस बात से किसी को इन्कार नहीं होना चाहिए कि तमाम जनकलाओं का जनक श्रमिक समाज रहा है। कलाएं अपने उद्भव की प्रक्रिया में श्रम से गहरे जुड़ी रही हैं। गिओर्गी प्लेखानोव, 'कला और श्रम' के सम्बन्ध पर, इस नतीजे पर पहुँचे कि "उत्पादक कार्य कला से पहले अस्तित्व में आया। आम तौर पर, मनुष्य ने वस्तुओं और परिघटनाओं को पहले उपयोगितावादी दृष्टि से देखा, और बाद में जाकर ही उसने सौन्दर्यात्मक दृष्टि से उन्हें देखना शुरू किया... आदिम समाज में कला प्रत्यक्षतः मानवीय श्रम से अनुकूलित होती थी।"[2]

इस तरह तमाम जनकलाओं का जनक श्रमिक समाज रहा है और इन्हीं जनकलाओं के दम पर शास्त्रीय कला की अमर बेल फली–फूली है। साहित्य–कला को 'ब्रह्मानंद सहोदर' और 'दैवीय प्रेरणा' की संज्ञा देकर सत्ता ने उसका उपयोग उत्पीड़ितों के खिलाफ़ एक औजार के रूप में करना शुरू किया। इसी क्रम में कलावादियों ने 'कला–कला के लिए' का नारा बुलन्द किया। असल में यह नारा बुलन्द करके सत्ता उत्पीड़ितों की आवाज़ को

दबा रही थी। 'येनान' की कला–साहित्य गोष्ठी में भाषण देते हुए माओ ने कहा था– "वास्तव में, कला–कला के लिए' के सिद्धान्त को मानने वाली, वर्गों से परे रहने वाली कला, तथा राजनीति से अलग रहने अथवा स्वतंत्र रहने वाली कला नाम की कोई चीज़ नहीं होती।"[3]

कला सत्ता की सेवा करते हुए उत्पीड़ितों के खिलाफ़ खड़ी हो गई। 'कला–कला के लिए' की आलोचना करते हुए गिओर्गी प्लेखानोव इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि: "यह विचार हमेशा ही प्रतिक्रियावादी शासक वर्गों की सेवा करता है। लेकिन जब समाज में वर्ग संघर्ष तीखा होता है तो शासक वर्ग और उसके विचारक खुद ही इस विचार को छोड़ देते हैं और कला को अपने बचाव के एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करने की कोशिश करने लगते हैं।"[4]

एक तरफ जहाँ सत्ता कला को अपने हक़ में इस्तेमाल कर रही थी, वहीं दूसरी तरफ इस सत्ताशाली साहित्य के बरक्स प्रतिरोध का साहित्य भी गढ़ा जाता रहा है। मार्क्स ने समस्त इतिहास को 'वर्ग संघर्षों का इतिहास'[5] कहा। यह वर्ग संघर्ष कला–साहित्य में भी मौजूद है। डॉ0 आम्बेडकर ने भारतीय इतिहास को समझने के लिए 'क्रांति–प्रतिक्रांति' की थीसिस पेश की[6], यह क्राति–प्रतिक्रांति भारतीय साहित्य में भी देखी जा सकती है। हमारा मानना है कि साहित्य को तमाम जनता के पक्ष में खड़े होना चाहिए। सिर्फ़ कलात्मकता के नाम पर किया गया लेखन स्वीकार नहीं किया जा सकता, यदि वह बहुसंख्यक जनता के हित में न हो। माओ ने कहा था "कोई भी वस्तु सिर्फ़ तभी अच्छी कहलायेगी यदि वह विशाल जन–समुदाय को सचमुच फायदा पहुँचाती है।"[7] वास्तव में यदि कला–साहित्य जनता को कोई फायदा नहीं पहुंचाते तो वे बेकार हैं। निश्चित ही साहित्य में कलात्मकता होनी चाहिए मगर उसका ज़ोर सामाजिक पक्ष पर होना चाहिए।

1936 ई0 में लखनऊ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के अद्धयक्षीय भाषण में प्रेमचन्द्र ने सुंदरता की कसौटी बदलने की बात कही थी। उन्होंने साहित्य मे यथार्थवाद की वकालत की। भारतीय इतिहास में यथार्थवाद (साहित्य में) का यह प्रथम उद्घोष था। हालांकि कबीर बहुत पहले 'आँखिन देखी' की बात कह चुके थे और प्रेमचन्द के समय में भी दलित लेखन हो रहा था। दरअसल दलित लेखन अपने उद्भव से ही यथार्थ की अभिव्यक्ति रहा है। किंतु प्रेमचंद के समय तक दलित लेखन की नोटिस नहीं ली गई थी। इस तरह प्रेमचंद ने साहित्य में पहली बार यथार्थवाद की वकालत की। साहित्य को परिभाषित करते

लेनिन के विचार थे कि: "वह किसी परितृप्ता नायिका अथवा चर्बीग्रस्त, उच्चाट 'उपरी दस हजार की नहीं' बल्कि उन करोड़ों–करोड़ मेहनतकशों की सेवा करेगा, जो देश की शोभा, उसका बल, उसका भविष्य हैं।"[10]

साहित्य को ऐसा करना भी चाहिए। तभी वह तमाम उत्पीड़ितों के लिए उपयोगी साबित हो सकता है। निश्चित ही वह ऐसा कर रहा है। इसलिए सत्ता तंत्र में खलबली मची हुई है। समय–समय पर सेंसरशिप के नाम पर, कलाकारों की गिरफ्तारी के ज़रिए सत्ता इसे रोकने की कोशिश करती रहती है। सत्ता के इस डर को समझा जा सकता है। दलित कवि ओमप्रकाश बाल्मीकि सत्ता के डर को अपनी कविता 'उन्हें डर है' में व्यक्त करते हैं:

"उन्हें डर है

बंजड़ धरती का सीना चीर कर

अन्न उगा देने वाले सांवले खुरदुरे हाथ

उतनी ही दक्षता से जुट जाएंगे

वर्जित क्षेत्र में भी

जहां अभी तक लगा था उनके लिए

नो एंटरी का बोर्ड।"[11]

दरअसल तमाम उत्पीड़ित अब सत्ता के लगे 'नो एंटरी के बोर्ड' को उखाड़कर 'वर्जित क्षेत्र' में घुसने लगे हैं। इससे सत्ता तंत्र में खलबली मचना लाज़मी है। ज़ाहिर तौर पर सत्ता द्वारा उत्पीड़ितों के साहित्य पर हमले होना भी लाज़मी है। लेकिन जैसे–जैसे सत्ता अपने शोषण के तरीके बदल रही है, ठीक वैसे ही साहित्य अपनी लड़ाई के लिए खुद को भी बदल रहा है। नई चुनौतियों से निपटने के लिए वह तैयार हो रहा है।

प्रेमचंद ने सुंदरता की कसौटी को बदलने की बात कही थी, मार्क्सवादी साहित्यकारों ने एक हद तक उस कसौटी को बदला भी। परंतु वे पूंजीवादी समाज के वर्ग की अवधारणा के सामने अर्धसामंतवादी–अर्धपूंजीवादी भारतीय समाज के जाति के सच को पचा नहीं पाए। जानबूझकर मार्क्सवादियों ने धर्म–जाति की अनदेखी की। इस वजह से भी ब्राह्मणवादी साहित्य को बल मिला। परंतु साहित्य में इसके खिलाफ़ दलित हस्तक्षेप ने आवाज़ उठाई। हालांकि दलित साहित्य की एक समृद्ध परंपरा रही है। परंतु 80 के दशक में यह हिन्दी पट्टी में एक नए तेवर के साथ उपस्थित होता है। दरअसल यह वह समय था जब सामाजिक संरचना तेज़ी से परिवर्तित हो रही थी। सामाजिक अवयवों के आपसी

सम्बन्ध बदल रहे थे। ध्रुवीकरण तेज़ी से हो रहा था। इस आधार पर साहित्य में भी बदलाव हुआ। 'दलित–स्त्री–आदिवासी' लेखकों की एक नई फौज आई, जिसने पूर्व के साहित्य चिंतन को कटघरे में खड़ा कर दिया। जय प्रकाश लीलवान पूर्व की कला पर सवाल खड़े करते हुए कहते हैं:

"और कला

जब धन और धर्मपतियों की

हम–बिस्तर

होती है तो वह

सबसे खूँखार चीज

हो जाया करती है।।"[12]

दलित साहित्य, साहित्य–समाज के इस खूँखारपन के विरोध में खड़ा हुआ है।

आज के दौर में साहित्य उत्पीड़ितों के सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त कर रहा है। इस दौर के साहित्य में दुनिया के तमाम उत्पीड़ितों की बेहतरी का सपना पलता है। दूसरी तरफ 1990 ई0 के बाद से कला–साहित्य में तेज़ी से क्षरण हुआ है। दरअसल पूंजीवादी व्यवस्था के जो कला–मूल्य हैं, वे सामाजिक–कलात्मक न होकर व्यापारात्मक हैं। कला–साहित्य की कुछ सामाजिक एवं कलात्मक प्रतिबद्धताएं होती हैं। जब उन प्रतिबद्धताओं से समझौता होगा, कला–साहित्य भी नष्ट होगा। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं जिस दौर में कला–साहित्य पर जितना तेज़ हमला होता है, ठीक उसी दौर में कला–साहित्य भी उतना धारदार होगा। जर्मन कवि –नाटककार बेर्टोल्ट बेष्ट के शब्दों में:

"क्या अँधेरे वक्त में भी

गीत गाए जाएंगे

हाँ अँधेरे के बारे में भी

गीत गाए जाएंगे।"[13]

हाशिए से आ रही आवाज़ें, इसी बात का संकेत हैं। साहित्य के सामाजिक पाठ होने का पता ऐसे भी चलता है कि यूरोप केन्द्रित विचारधाराएं कई तरह के अंत की घोषणाएं करने लगती हैं। 1960 ई0 में डैनियल बेल विचारधारा के अंत की घोषणा करते हैं। 1968 ई0 में रोला बार्थ लेखक की मृत्यु की बात कहते हैं। मिशेल फूको आलोचक की मौत का उद्घोष

करते हैं। 1986 ई0 में विक्टर वर्गिन कला के अन्त की घोषणा करते हैं तो 1990 ई0 में एल्विन कर्नान साहित्य का अंत घोषित कर देते हैं। ये विचारधाराएं इतिहास एवं ईश्वर की मृत्यु की घोषणा भी कर चुकी हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि साहित्य का अंत घोषित करने वालों में कुछ लोग स्वये उच्चकोटि के साहित्यकार माने जाते हैं। असल में विचार की अंतहीनता का यह दर्शन भी स्वयं विचार है। भले ही पूंजीवाद व्यवस्था यह कहे कि यह अंतिम चिंतन है, लेकिन विकल्प हमेशा होते हैं। वास्तव में पूंजीवादी विचारधाराएं खुद को अंतिम बताती हैं। ऐसा करके एक तरफ तो वे पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थन करती हैं तो वहीं दूसरी तरफ विकल्पहीनता की स्थिति भी प्रस्तुत करती हैं। जो अंतहीनता की इस विचारधारा के समर्थक हैं, उनका इतिहास भी बताता है कि बदलाव होगा। इतिहास में बदलाव होते रहते है। असल में सत्ता जड़ता की समर्थक होती है। वह जिस विचार को पकड़ती है, उसे अंतिम बताती है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह संकट और बढ़ जाता है क्योंकि यहाँ ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद दोनों मिलकर उत्पीड़ितों के खिलाफ़ खड़े हैं। माओ ने कहा था "हम यह समझते हैं कि कला–साहित्य जनता के लिए है।"[14] साहित्य को जनता के लिए होना भी चाहिए। आज का साहित्य उत्पीड़ितों के साथ खड़ा है। इस्ी में साहित्य की रचनात्मकता एवं प्रासंगिकता दोनों है। आज साहित्य में 'दलित–स्त्री–आदिवासी–अल्पसंख्यक–किसान–छात्र–मज़दूर अपनी दमदार आवाज़ दर्ज़ कर रहे हैं। मगर दूसरी तरफ साहित्य विराधी शक्तियां भी सक्रिय हैं। भले ही दमनकारी शक्तियों के आगे इनकी आवाज़ मद्धम है, मगर एक दिन ये छोटे–छोटे आख्यान मिलकर, महाआख्यान का निर्माण करेंगे और शोषक पराजित होंगे। यह साहित्य की सामाजिकता का सबसे बड़ा प्रमाण होगा। आज साहित्य में जातिगत असमानता, लैंगिक विभेद, साम्प्रदायिकता, बाज़ार जनित चुनौतियों एवं उत्पीड़ितों के हक़ की आवाज़ तेज़ हो रही है। आज का साहित्य उत्पीड़ितों का साहित्य है। भले ही मुख्यधारा का साहित्य, हाशिए के साहित्य को तवज्जों नहीं दे रहा है, फिर भी बहस का एक माहौल तो तैयार हुआ है। हाशिए के साहित्य में समाज का यथार्थ अभिव्यक्त हो रहा है, इससे साहित्य में एक दबाव की स्थिति बनी है। मुख्यधारा के साहित्य को हाशिए के साहित्य से सीख लेकर समाज से जुड़ना चाहिए। नहीं तो पहले से ही संदिग्ध उसकी उपयोगिता और संदिग्ध हो जाएगी। अंर्स्ट फिशर कला पर अपने विचार प्रकट करते हुए उसके सामाजिक पक्ष की चर्चा करते हैं: "क्षयग्रस्त समाज की कला, यदि वह सच्ची कला है तो, क्षय को भी अवश्य ही प्रतिबिंबित करती है। और यदि कला अपने सामाजिक कार्य के प्रति अपनी निष्ठाा का परित्याग नहीं करना चाहती, तो उसके लिए अत्यंत आवश्यक है कि वह जगत को परिवर्तनशील दिखाए और स्वयं भी उस परिवर्तन में सहायक हो।"[15]

निश्चित ही साहित्य को यह भूमिका निभानो चाहिए, यदि वह जनता का साहित्य है। प्रेमचन्द ने साहित्यकार को स्वभाव से प्रगतिशील कहा था। इसी तरह साहित्य भी

स्वभावतः प्रगतिशील ही होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रवत्यः सभी जनकलाएं मानव हितैषी होती हैं किंतु सत्ता के लोग व सत्ता की विचारधारा उसे जनविरोधी बना देते हैं।

आज का साहित्य, अपने पूर्व के साहित्य पर सवाल खड़े कर रहा है। इस तरह वह स्थापित साहित्य के विरूद्ध उत्पीड़ितों का साहित्य गढ़ रहा है। इस साहित्य का स्वप्न समाज में बेहतरी लाना है। जय प्रकाश लीलवान दरबारी कविता की आलोचना करते हुए मुख्यधारा की कविता पर सवाल खड़े करते हैंः

"इस

साहित्य की सल्तनत में

बँधे

दरबारी कुत्तों का

आदतन भौंकना भी

उन्हें आज तक

कविता–जैसा ही लगता आया है।"[16]

हाशिए के लोगों का साहित्य ही, सही अर्थों में आज का साहित्य है। वह स्थापित शोषणकारी सत्ता व उसके साहित्य का विरोध करता है तथा साहित्य–समाज में बदलाव का पक्षधर है। साहित्य की इस भूमिका के बारे में ओमप्रकाश बाल्मीकि कहते हैं "जब समाज बदलता है तो साहित्य में भी परिवर्तन आता है। लेखक को एक साथ कई मोर्चों पर ध्यान देना पड़ता है। यदि साहित्यकार इस बदलाव को अनदेखा कर देगा, तो वह समय के साथ नहीं चल पाएगा।[17]

साहित्य में सौन्दर्य और बेहतरी दोनों का सपना होना चाहिए। इस तरह साहित्य समाज में दोहरी भूमिकाएं निभाता है। साहित्यकार के लिए अपने समय के साथ चलना ज़रूरी होता है। जब समाज में क्रांति की ज़रूरत हो, तो साहित्य प्रेम के गीत नहीं गा सकता। उसे क्रांति के गीत गाने चाहिए। साहित्यकार को अपने समय को अपनी रचनाओं में पकड़ना चाहिए। यदि साहित्य ऐसा नहीं करता है तो वह जनता का साहित्य नहीं हो सकता। सत्ता ने साहित्य का सहारा लेकर अपना वर्चस्व स्थापित किया है। इसके विरोध में आज जनता का साहित्य खड़ा हुआ है। आज का साहित्य जहाँ एक ओर उत्पीड़ितों का सौन्दर्यशास्त्र गढ़ रहा है, वहीं दूसरी ओर वह उनकी बेहतरी व हक़ के लिए लड़ रहा है।

पूरा नहीं हुआ। हालांकि यह भी सच है कि हाशिए के लोगों की बेहतरी जनवादी लोकतंत्र में ही है। मगर यह तय है कि वह वर्तमान संसदीय लोकतंत्र नहीं है।

सन 1956 ई0 में डा0 आंबेडकर ने 'वायस ऑफ अमेरिका' से हुई वार्ता में भारतीय लोकतंत्र के भविश्य पर कहा थाः "लोकतंत्र पूरी तरह गणतंत्र और संसदीय सरकार से भिन्न चीज है। लोकतंत्र की जड़ें सरकार के संसदीय तथा अन्य स्वरुप में नहीं हैं। लोकतंत्र सरकार के स्वरुप या ढांचे से बड़ी चीज़ है। यह मुख्यतया मिलजुल कर रहने का तरीका है। इसलिए लोकतंत्र की जड़ें सामाजिक सम्बन्धों में तलाशनी होंगी, अर्थात उन लोंगों के बीच में, जो मिलजुल कर समाज बनाते हैं।"[20]

भारत में अभी तक डॉ0 आंबेडकर के सपनो के लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो सकी है। पढ़ा–लिखा आदमी राजनीति को अच्छी निगाह से नहीं देखता। वह राजनीति से बचना चाहता है। व्यवहार में लोग राजनीति को बुरी चीज़ मानते है। अक्सर बोलचाल में लोग कह देते हैं 'राजनीति कर रहे हो'। क्या सचमुच राजनीति इतनी गन्दी चीज़ होती है कि उससे घृणा की जाए? क्या राजनीति का मतलब गद्दी हथियाने और उसके लिए किए जाने वाले दाँव–पेंचों से ही है? या राजनीति के कुछ और निहितार्थ भी हैं। राजनीति दो तरह की होती हैः सत्ता की राजनीति और जनता की राजनीति। इन दोनों के फ़र्क़ को समझने की ज़रुरत है। सत्ता की राजनीति यथास्थितिवादी होती है और वह चीज़ों को धूमिल करके पेश करती है। इसके विपरीत जनता की राजनीति परिवर्तनकामी होती है और वह चीज़ों को सबके लिए खोल देती है। सत्ता की राजनीति करने वाले लोगों ने तमाम उत्पादन साधनों पर अपना कब्ज़ा कर रखा है। वह परंपरा से प्रभुत्वशाली वर्ग से संबन्धित रहे हैं। उन्होंने राजनीति को जहाँ सत्ता प्राप्ति के दाँव–पेंचों तक सीमित कर दिया वहीं जनता को इस भ्रम में भी रखा कि वे उनके भले के लिए काम करेंगे। किसी विकल्प के न होने पर उत्पीड़ित जनता भी उन्हें ही चुनती रही है। सत्ता की राजनीति ने तमाम हथकंडों के द्वारा खुद को एकमात्र विकल्प के तौर पर प्रस्तुत किया।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में सर्वहारा ने अपना राजनीतिक संगठन बनाकर सत्ता की इस राजनीति का प्रतिरोध किया है। एंगेल्स ने उत्पीड़ित वर्ग को सर्वहारा जितना परिपक्व होने के लिए कहा थाः "जब तक कि उत्पीड़ित वर्ग–इस मामले में सर्वहारा वर्ग–इतना परिपक्व नहीं हो जाता कि अपने को स्वतंत्र करने के योग्य हो जाये, तब तक उसका अधिकांश भाग वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को ही एकमात्र सम्भव व्यवस्था समझता रहेगा और इसलिए वह राजनीतिक रूप से पूंजीपति वर्ग का दुमछल्ला, उसका उग्र वामपक्ष बना रहेगा। लेकिन जैसे–जैसे यह वर्ग स्वयं अपने को मुक्त करने के योग्य बनता जाता है, वह अपने को खुद अपनी पार्टी के रूप में संगठित करता है और पूंजीपतियों के नही, बल्कि खुद अपने प्रतिनिधि चुनता है।"[21] इस तरह उत्पीड़ित वर्ग समझदारी आने पर खुद को

सगठित कर, राजनीति का उपयोग समाज में व्यापक फेर–बदल के लिए करता है। वह सत्ता की राजनीति करने वाले वर्ग की मुखालफ़त करता है तथा एक विकल्प प्रस्तुत करता है। इस क्रम में राजनीति सोचने–समझने के साथ समाज में व्यापक फेर–बदल का ज़रिया बन जाती है। वह सत्ता की दौड़ न रहकर, उत्पीड़ितों के हक़ में तमाम शोषितों के साथ खड़ी हो जाती है।

भारतीय संदर्भ में राजनीति का चरित्र शुरूआत से ही जातिवादी रहा है। जातिवाद और वंशवाद ने राजनीति का स्वरूप विकृत कर दिया है। मार्क्सवाद भारत में कुछ ठोस नहीं कर पाया और वह भारत में कभी बड़ा विकल्प बनकर उभर नहीं पाया। हाँ मार्क्सवादी कहे जाने वाली कुछ पार्टियों ने सत्ता के प्रतिरोध की परंपरा को जरूर क़ायम रखा। और जनता के एक हिस्से में जागरूकता फैलाकर उसे प्रभावित किया। मार्क्सवादी राजनीति करने वाला यह धड़ा आज भी सक्रिय है। हाशिए के लोग धीरे–धीरे ही सही जागरूक होने लगे हैं। उन्होंने राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया है। उन्हें मालूम हा गया है कि सही राजनीति ही उनके जीवन मे बेहतरी ला सकती है। डॉ0 आंबेडकर ने इसलिए दलितों के लिए सत्ता में भागीदारी की मांग की थी। सत्ता ही सत्ता का मुकाबला कर सकती है। आज तमाम उत्पीड़ित इस बात को समझ रहे हैं। वे मुख्यधारा की सत्ताशाली राजनीति के समक्ष एक विकल्प का निर्माण कर रहे हैं। समाज में छोटी माने जानी वाली विभिन्न जातियां राजनीति के माध्यम से गोलबंदी कर रहीं हैं। कुछ लोग जाति के आधार पर हो रही इस राजनीतिक गोलबंदी को राजनीति में जातिवाद की संज्ञा दे रहे हैं। वहीं रजनी कोठारी जैसे समाजशास्त्री इसे 'जाति का राजनीतिकरण'[22] कहते हैं। जो भी हो मगर यह खुशी की बात है कि हाशिए की जातियां राजनीति के जरिए सत्ता में अपना दावा प्रस्तुत कर रही हैं। सदियों से गुलामी का जीवन जीने वाली हाशिए की जातियां अगर आज अपना हक़ मांग रहीं हैं तो यह समाज मे बदलाव का संकेत है। बुद्धिजीवियों को इस घटना को सकारात्मक रूप से देखना चाहिए अगर उन्हें लगता है कि यह जातिवाद का उभार है तो उन्हें उत्पीड़ित जनता तक यह समझदारी लेकर जानी चाहिए। आज दलित–पिछड़े–आदिवासी सहित महिलाएं राजनीति के ज़रिए अपना हक़ मांग रहे हैं और सामाजिक परिवर्तन का दावा कर रहे हैं।

यथास्थितिवाद की समर्थक सत्ता की राजनीति को हाशिए के इन समुदायों का राजनीतिक उभार रास नहीं आ रहा है। वह तमाम राजनीतिक चालबाज़ियों से इनके उभार को दबाना चाहती है। इस काम के लिए सत्ता धर्म, कानून, जाति तथा पुलिस का सहारा लेती है। आंदोलन कर रही जनता पर लाठी चार्ज आम बात हो गई है। हाशिए से केन्द्र में आ रहे इन समुदायों का उत्पीड़न भी बढ़ रहा है। इन सब के बावजूद मुख्यधारा की राजनीति पर एक दबाव तो बना है। राजनीतिक मज़बूरियों के चलते ही सही, उसे इन समुदायों के बारे मे सोचना पड़ रहा है। उधर इन समुदायों की समझ में आ चुका है कि

सत्ता का मुकाबला करने के लिए सत्ता चाहिए। उन्होंने राजनीति को पहचान लिया है। जय प्रकाश लीलवान कहते हैंः

"कॉमरेड–राजनीति दरअसल

पार्टियों संसद

और विधान भवनों में नहीं

राजनीति तो

चीजों के पीछे छिपे

सामाजिक

और शक्ति–सम्बन्धों के

विकराल

ताने–बाने में

बुनी होती है"[23]

हाशिए के इन समुदायों ने शक्ति–सम्बन्धों के ताने–बाने में बुनी राजनीति को पहचान लिया है। अब इस पहचान को वे अपने सहोदरों तक ले जा रहे हैं। मुख्यधारा की राजनीति ने प्रतीकीकरण के ज़रिए लगातार खुद को स्थापित किया है। अब हाशिए की जातियां भी अपने प्रतीक गढ़ रही हैं। सत्ताशाली इतिहास के बरक्स अपने इतिहास का निर्माण कर रही हैं। इससे समाज में एक बदलाव की शुरूआत हुई है। उत्पीड़ित जनता की राजनीति व लोकतंत्र मे आस जगी है। जनता सोचने–समझने लगी है। धीरे–धीरे ही सही वह अपने वोट की ताकत को पहचान रही है। उत्पीड़ित जनता की राजनीति कर रही विभिन्न पार्टियों को चाहिए कि वह जनता तक यह समझदारी लेकर जाएं कि भविष्य में उन्हें बड़े फेर बदल के लिए तैयार होना है। जनता की राजनीति द्वारा जनवादी लोकतंत्र की स्थापना करनी है।

डॉ0 आंबेडकर ने गोलमेज परिषद में भविष्य की सरकार के बारे में कहा थाः "हमे ऐसी सरकार चाहिए, जिसमें सत्ता में बैठे व्यक्ति इस बात को समझतें हों कि कब सरकार की आज्ञाकारिता समाप्त हो जाती है और प्रतिरोध आंरम्भ हो जाता है, फिर वे न्याय और समय की आवश्यकताओं को देखते हुए सामाजिक और आर्थिक जीवन की आचार संहिताओं में परिवर्तन करने में नहीं हिचकिचाएं। अंग्रजी सरकार यह भूमिका कभी नहीं निभा सकेगी। यह कार्य केवल वही सरकार कर सकती है, जो जनता की सरकार हो,

जनता के लिए हो तथा जनता द्वारा चुनी गई हो।[24] ऐसी सरकार की स्थापना सत्ता की राजनीति द्वारा नहीं बल्कि जनता की राजनीति द्वारा ही हो सकती है। तभी सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र की स्थापना भी सम्भव है। एक दिन ज़रूर तमाम उत्पीड़ित मिलकर जनता की सरकार बनाएगें। राजनीति का असली निहितार्थ भी यही है मगर वह दिन अभी काफी दूर है।

जातिवाद समाज में आज भी व्याप्त है। मगर सत्ता द्वारा एक हद तक छुआछूत मिटने को ही जाति का ख़ात्मा कहकर प्रचारित किया जा रहा है। जाति के ख़ात्मे के बिना समाज में कोई व्यापक फेर बदल संभव नहीं। फिलवक़्त अस्मिताओं की राजनीति का दौर है। समाजशास्त्री रजनी कोठारी इसे सकारात्मक दृष्टि से देखते हुए कहते हैः "मेरा विचार है कि जब तक जनता बड़े पैमाने पर राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी नहीं करेगी और जाति और वर्ग जैसी सामाजिक संस्थाओं का राजनीतिकरण नहीं होगा। तब तक वास्तविक समाज परिवर्तन नहीं हो सकता। राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल हो कर ही लोग सचेत होते हैं और बदलते हैं।"[25] बात सही है। क्योंकि राजनीति अगर भ्रष्ट हो गई है तो जनता उसके ठीक होने का इंतज़ार नहीं कर सकती वह अपने आप ठीक नहीं होगी, उसे जनता ही आगे बढ़कर ठीक करेगी। चुनांचे, जनता को राजनीति में भागीदारी करनी चाहिए। इसी से जनता की राजनीति का रास्ता भी खुलता है जो समाज में व्यापक फेर–बदल का कारण बनेगा।

सत्ता की राजनीति ने हाशिए की जनता को दबाकर अपनी सत्ता कायम की हैं उसने राजनीति को दूषित किया है। सत्ता यह भी तय करती है कि उत्पीड़ित जनता के जो भी प्रतिनिधि आएं, वह उनके सच्चे प्रतिनिधि ना हों। यदि कोई सच्चा प्रतिनिधि सत्ता में पहुँचता भी है तो सत्ता की मशीनरी उसे प्रभावहीन बना देती है। इतना तय है कि मुख्यधारा के राजनीतिक दलों में शामिल होकर उत्पीड़ित जनता के प्रतिनिधि अपने वंचित समाज के लिए कुछ भी ठोस नहीं कर सकते। वंचित समाज की बेहतरी के लिए उनके प्रतिनिधियों को अपने संगठन बनाकर, स्थापित सत्ता को चुनौती देनी चाहिए। अपने संभावित मित्रों की तलाश करनी चाहिए। यह क़वायद शुरू हो चुकी है। उत्पीड़ित जनता के प्रतिनिधियों ने अपने राजनीतिक संगठन बनाकर, एक विकल्प गढ़ने की कोशिश की है। कई प्रदेशों में उन्होंने सरकार भी बनाई हैं जिससे सामाजिक परिवर्तन की राजनीतिक को बल मिला है। उप्पीड़ित जनता मे आत्म सम्मान की भावना जगी है और वे समझने लगें है कि राजनीति परिवर्तन का ज़रिया है। चुनांचे, उन्होंने सत्ता पर अपनी दावेदारी प्रस्तुत की है। यह ठीक है कि सत्ता ही सत्ता का मुकाबला कर सकती है, मगर वह सत्ता उत्पीड़ितों के हित में होनी चाहिए। उत्पीड़ित जनता की राजनीति कर रहे संगठनों को कई बार उल्टे–सीधे समझौते भी करने पड़ते हैं क्योंकि उन्हें सत्ता चाहिए। ठीक है, मगर ये समझौते उत्पीड़ितों के हितों की अनदेखी करके नहीं किए जाने चाहिए। राजनीति में हित

सर्वोच्च होते हैं, मगर वे हित किसके हैं, यह बात सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण होती है। वे हित चन्द सत्ता परस्त नेताओं के हैं या तमाम उत्पीड़ित जनता कें। फ्रेडरिक एंगेल्स के अनुसार "जो शासक वर्ग के लिए कल्याणकारी है, उसे पूरे समाज के लिए कल्याणकारी होना चाहिए, जिससे शासक वर्ग अपने को अभिन्न समझता है।"[26]

इसी से राजनीति के निहितार्थ भी तय होंगें। इसी से तय होगा कि आप सत्ता की राजनीति कर रहे हैं या जनता की। भारत में हाशिए पर पड़ी हुई जातियां, राजनीति के केन्द्र में आ रही हैं। समाज में बेहतरी और समानता लाने के लिए होना तो यही चाहिए कि अस्मिताओं की खोज करने वाले तमाम समुदाय एक होकर स्थापित सत्ता से लड़ें और अस्मिता की राजनीति से आगे बढ़कर अस्त्वि की लड़ाई का ऐलान करें। फिलवक़्त तो यह सम्भव नहीं क्योंकि जाति और राजनीति मिलकर गोलबंदी कर रहीं हैं। मगर इसी से भविष्य की जनता की राजनीति का रास्ता भी बनेगा। उत्पीड़ित जनता अब सचेत हो रही है तथा राजनीति की भूमिका को समझ रही है। अस्मिताओं की राजनीति का यह पहला दौर है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं बनने वाला, मगर इससे आने वाली राजनीति का रास्ता ज़रूर बन सकता हैं

1.3 साहित्य और राजनीति

साहित्य और राजनीति में गहरा सम्बन्ध होता है। दोनों एक दूसरे को प्रेरित–प्रभावित करते हैं। प्रत्येक समय से दो प्रकार के साहित्य सक्रिय रहते हैं। सत्ता का साहित्य और जनता का साहित्य। सत्ता का साहित्य सत्ता के यथास्थितिवाद को बनाए रखने में मदद करता है और 'कला–कला के लिए' की वकालत करता है। दूसरी ओर जनता का साहित्य स्थापित सत्ता के वर्चस्व का प्रतिरोध करता है और उत्पीड़ितों की बेहतरी का पक्षधर होता है। ये दोनों ही साहित्य राजनीति से गहरे जुड़े होते हैं। राजनीति भी दो प्रकार की होती है। सत्ता की राजनीति और जनता की राजनीति। ये दोनो साहित्य क्रमशः इन्हीं राजनीतियों से जुड़े होते हैं। सत्ता का साहित्य, सत्ता की राजनीति का पिछलग्गु होता है। इसके विपरीत जनता का साहित्य, जनता की राजनीति के साथ चलता है। यदि राजनीति ग़लत रास्ते पर जाती है तो जनता का साहित्य उसे दिशा देता है। चुनांचे प्रेमचन्द ने कहा थाः "वह देश और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।"[27]

जो लोग साहित्य को राजनीति से अलगाकर देखते हैं असलियत में वे स्वयं राजनीति कर रहे होते हैं। कलावादियों ने जब 'कला–कला के लिए' का नारा दिया, तो वे स्वयं सत्ता की ही राजनीति कर रहे थे। सत्ता का साहित्य एक तरफ सत्ता की राजनीति को गुपचुप तरीके से आगे बढ़ाता है तो दूसरी तरफ साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध से इंकार भी करता है। जबकि सचाई यह है कि साहित्य राजनीति से गहरे जुड़ा होता है। चाहे वह सत्ता का साहित्य हो या जनता का साहित्य। कवि गोरख पांडेय कलावादियों की आलोचना करते हुए कहते हैंः

"कला कला के लिए हो

जीवन को खूबसूरत बनाने के लिए न हो

रोटी रोटी के लिए हो

खाने के लिए न हो"[28]

कलावादी यदि सचमुच कला–साहित्य को मात्र आंनद की वस्तु मानकर, उससे आनंद प्राप्त करते तो भी कोई दिक्कत नहीं थी। मगर इस बहाने वे सत्ता की राजनीति कर रहे थे। तुलसीदास यदि राम की भक्ति में लीन रहते तो किसी को दिक्कत नहीं होती, मगर वे तो शूद्र व अति शूद्र संतों द्वारा साहित्य में चलाए वर्ग–संघर्ष की मुखालफ़त कर रहे थे। जब उत्पीड़ित अपने साहित्य और राजनीति द्वारा इन प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं तो उनके लेखन को सौन्दर्यशास्त्र के नाम पर ख़ारिज कर दिया जाता है। अब उन्हें

जातिवादी और अलगाववादी भी कहा जा रहा है। गोया साहित्य–समाज में जातिवाद, अलगाववाद तमाम उत्पीड़ितों ने पैदा किया है। यह सत्ता के साहित्य और उसकी राजनीति की कितनी बड़ी चाल है कि उत्पीड़न के खिलाफ़ आवाज़ उठाने वाले उत्पीड़ितों को ही जातिवादी और अलगाववादी साबित किया जा रहा है। कला को समाज से निरपेक्ष मानने वाले लोगों से मैनेजर पाण्डे सवाल करते हैं : "सवाल यह है कि... क्या सचमुच साहित्य का वर्ग, समाज, देश काल, वर्ण, जाति और लिंग से कोई सम्बन्ध नहीं होता? दुनिया में आज तक ऐसा साहित्य न पैदा हुआ है और न होगा जिसका वर्ग, समाज, देश और लिंग सम्बन्धी कोई न कोई दृष्टिकोण, आग्रह या दुराग्रह एकदम न हो।"[29]

इसी क्रम में साहित्य राजनीति से भी जुड़ा रहा है। सत्ता का साहित्य, सत्ता की राजनीति को आगे बढ़ाता है, तो जनता के साहित्य को खुलकर राजनीतिक हो जाना चाहिए। उत्पीड़ितों का साहित्य मुक्ति का साहित्य है और मुक्ति का साहित्य राजनीतिक ही होता है। साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध पर मैनेजर पाण्डे का विचार है कि: "साहित्य राजनीति का कहीं दर्पण होता है तो कहीं दीपक, उसमें कहीं राजनीति प्रतिबिम्बित होती है तो कभी वह राजनीति का मार्गदर्शक भी बनता है"[30] सचाई यह है कि दुनिया का 15 प्रतिशत ऊपरी हिस्सा सारे संसाधानों पर कब्ज़ा जमाए बैठा है और अपने विशेषाधिकार नहीं छोड़ना चाहता। साहित्य से लेकर राजनीति तक यही उच्च तबका कुंडली मारे बैठा है। इसके विपरीत दुनिया की लगभग 85 प्रतिशत उत्पीड़ित जनता भूखे मर रही है। ऐसे में साहित्य और राजनीति की क्या भूमिका होनी चाहिए! खासकर तब जब साहित्य और राजनीति जनता की तरफ़दारी की बात कर रहे हो। ऐसे में साहित्य को राजनीतिक हो जाना चाहिए। यह समय का तकाज़ा है। साहित्य और राजनीति को समय के साथ चलना चाहिए। अब जनता का साहित्य और राजनीति अभिन्न होकर उत्पीड़ितों के हक़–हकूक की बात कर रहें हैं तो सत्ता का साहित्य और राजनीति उन्हें ख़ारिज करने की पुरज़ोर कोशिशें करेगें ही।

जनता की बातें करने वाले तमाम साहित्यकार – कलाकार राजनीतिक रहे हैं। प्रेम और उदासी की कविताएं लिखने वाले चिली के कवि पाब्लो नेरूदा भी फासीवादियों द्वारा लोर्का की हत्या के बाद राजनीतिक हो गए थे। इस तरह लोर्का, नेरूदा, फ़ैज़, नाज़िम–हिक़मत, प्रेमचन्द और मुक्तिबोध इत्यादि साहित्यकार–कवि राजनीतिक रहे हैं। आज भी गुंटरग्रास, हेराल्ड पिंटर, थियोंगे, तस्लीमा नसरीन और महाश्वेता देवी इत्यादि साहित्यकार खुले तौर पर राजनीतिक हैं। अपनी कविता के बारे में पाब्लो नेरूदा कहते हैं: "मैं देखता हूँ कि अचानक एकाकीपन के दक्षिण से मैं उत्तर की ओर चला गया हूँ, इन्सानों की तरफ, जिनकी तलवार और रूमाल बनना चाहती है मेरी कविता, जिनके ऊपर दुखों के पसीने को सुखाना चाहती है और रोटी की जद्दोजहद में जिनका हथियार बनना चाहती है।"[31] सत्ता

उत्पीड़ितों के साहित्य को अब सौन्दर्येशास्त्र के नाम पर नकारा जा रहा है। उनकी भाषा को अश्लील कहा जा रहा है। जबकि सचाई यह है कि उत्पीड़ितों के साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र विकसित हो रहा है। वह अपने आप रचनाओं में आ रहा है। रचनाओं में खुद आ रहे सौन्दर्य को नकार कर सत्ता का साहित्य बेकार की हुज्जत कर रहा है। उत्पीड़ितों का साहित्य उनके जीवन के सच और उनकी आंकाक्षाओं का साहित्य है। लोर्का ने कहा था 'हर मानवीय पीड़ा वाला के लिए कच्चा माल बन जाती है'। उत्पीड़ितों के साहित्य में उनकी पीड़ा व्यक्त हो रही है, मगर उसमें स्थापित साहित्य और सत्ता का प्रतिरोध भी है। वैसे सत्ता और उसके साहित्य के प्रतिरोध की लम्बी परम्परा रही है। मावर्सवादी साहित्य ने राजनीतिक चेतना से लैस होकर कलावाद और पूंजीवाद का पुरज़ोर विरोध किया है। मगर पिछले 20–25 सालों में दुनिया का दबा–कुचला हिस्सा नए तरीके से उभर रहा है। वह सिर्फ़ उभर ही नहीं रहा बल्कि सत्ता के खिलाफ खड़ा भी हुआ है। हाशिए की तमाम अस्मिताओं ने साहित्य और राजनीति में हस्तक्षेप किया है। विचारधारा के अंत की घोषणाएं करने वाले इस बात से चिंतित हैं। उन्हे डर है कि कहीं ये अख्यान मिलकर एक दिन महाआख्यान ना बन जाएं। अस्मिताओं की लड़ाई अस्तित्व की लड़ाई में तबदील ना हो जाए।

आज के समय में हाशिए की अस्मिताएं सीधे सत्ता व उसके साहित्य के खिलाफ लामबन्द हो रही हैं। मोहनदास नैमिशराय ऐलान करते हैं :

"साहित्य और कला को
विलासिता के दायरे से निकाल
चाकू जैसी धार देनी है उसे
अपनी मुखर आवाज के साथ
परिवर्तन के शिखर पर पहुँचना है
जहाँ से
ऊपर बैठा सत्ता का दलाल
गिरे तो
उसे दोबारा लौटाना न पड़े।
हमें शासक की जमात की
पशुता से सीधी लड़ाई

लड़नी है"[34]

इस लड़ाई को दबाने के लिए सत्ता व उसकी शक्तियां सक्रिय हो रही हैं। आज शोषण की बारीकी बढ़ी है। ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद मिलकर उत्पीड़ितों का शोषण कर रहे हैं। बाज़ार अपनी आर्कषक मुद्रा में लोगों के घरों में घुस आया है। उसने लोगों की मानसिकता को अपने वश में कर लिया है। लोगों को क्या पहनना–ओढ़ना है, यह वे नहीं बल्कि बाज़ार तय कर रहा है। जनता आधुनिक हुए बिना उत्तर आधुनिक हो रही है। दूसरी तरफ पण्डित जी मोबाईल और टेलीविजन पर भविष्यफल बता रहे हैं। यह स्थिति खतरनाक है। इसमें सत्ता का साहित्य और राजनीति अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। सत्ता ने आम आदमी की छवि में बड़ी आसानी से मध्यवर्ग को फिट कर दिया है। असल आम आदमी उसके ऐजेण्डे में नहीं है। ऐसे में उत्पीड़ितों के साहित्य की भूमिका और बढ़ जाती है। अब समय आ गया है कि उत्पीडितों का साहित्य पूरी तरह से राजनीतिक हो जाए। इसके लिए वह तैयार हो रहा है। उसे ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद दोनों से लड़ना है इसलिए उसकी लड़ाई दोहरी हो जाती है। वह अपनी भूमिका को समझता है। साहित्य का काम है समाज की जटिलता को पकड़ना इसलिए जैसे–जैसे समाज में जटिलता बढ़ेगी, ठीक वैसे ही साहित्य की गतिशीलता भी। उत्पीड़ितों का साहित्य इसी जटिलता को पकड़ने की कोशिश कर रहा है, चुनांचे वह गतिशील है। आज समाज में शोषण बहुमुखी हुआ है तो उससे लड़ने के लिए साहित्य का ढांचा भी बहुमुखी हुआ है।

प्रेमचंद ने कहा था– "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[35] उत्पीड़ितों का साहित्य इस कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरता है। उत्पीड़ितों के साहित्य में मुक्ति का चिंतन और एक बेहतर समाज बनाने का स्वप्न है। वह जनता की स्वाधीनता चाहता है, उसमें मनुष्य का सौन्दर्य है और सृजन की आत्मा भी, उसमें जनता के जीवन का सच है तथा वह पाठकों में बेचैनी पैदा करता है। इस तरह उत्पीड़ितों का साहित्य ही सच्चा साहित्य है। यह साहित्य राजनीति से गहरे जुड़ा है। दोनों एक दूसरे को प्रेरित–प्रभावित करते हैं। इसी क्रम में दोनों एक सुंदर और शोषण मुक्त समाज के निर्माण के लिए आगे बढ़ रहे हैं। अगरचे मंजिल अभी दूर है, मगर उसके लिए क़वायद ज़ारी है। इस साहित्य और राजनीति ने तमाम उत्पीड़ितों के अन्दर आत्म सम्मान का भाव जगाया है। उन्हें प्रतिरोध के लिए तैयार किया है। यह साहित्य जनता से संवाद क़ायम किए बिना जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि यह जनता की भाषा में, जनता का साहित्य है। यह उत्पीड़ितों की उम्मीदों और संघर्षों का साहित्य है। इसमें जनता का पसीना और खून समाया है।

सही मायने में यह भारतीय साहित्य है, जो जनता का प्रतिनिधित्व करता है। यह साहित्य दुनिया भर में चल रहे जन–आंदोलनों से प्रेरणा लेता है। इसी साहित्य और राजनीति से शोषक पराजित होंगे और संदुर तथा शोषण मुक्त समाज का निर्माण होगा। इस तरह यह विनाश और निर्माण दोनों का साहित्य है। यह साहित्य जनता को बदलाव के लिए तैयार कर रहा है। जय प्रकाश लीलवान कहते हैं:

"दमन की आँधियों में तो

पेड़ भी हरकतों में आ जाते हैं

फिर हम तो आदमी हैं।"[36]

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. गिर्ओगी प्लेखानोव– कला के सामाजिक उद्गम, अनुवाद– विश्वनाथ मिश्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण– 2003, पृष्ठ संख्या–21

2. वही, पृष्ठ संख्या–17

3. माओत्से–तुड. की रचनाएं प्रतिनिधि चयन, राहुल फाउण्डेशन लखनऊ, जनवरी 2004 संस्करण, पृष्ठ संख्या– 219

4. गिर्ओगी प्लेखानोव– कला के सामाजिक उद्गम, पृष्ठ संख्या– 22

5. आज तक अस्तित्वमान समस्त इतिहास... वर्ग संघर्षों का इतिहास है। देखें– मार्क्स, एंगेल्स,– कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, राहुल फाउण्डेशन नखनऊ, जुलाई 2007 संस्करण, पृष्ठ संख्या– 32

6. डॉ0 आंबेडकर ने भारतीय इतिहास को समझने के लिए 'क्रांति–प्रतिक्रांति' की अवधारणा पेश की और कहाः 'मैं यहाँ संक्षेप में भारतीय इतिहास के मुख्य तथ्यों को प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह इस लिए भी कि जिन लोगों ने भारत के इतिहास को कुछ भी समझा है, उनको यह जान लेना चाहिए कि यह इतिहास और कुछ नहीं है, बल्कि ब्राह्मणवाद और बौद्धधर्म के बीच महत्ता के लिए संघर्ष का इतिहास है' देखें– सं0 कैलाश चन्द्र सेठ, मोहनदास नैमिशराय– बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय खंड–7, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, दूसरा संस्करण–अप्रैल 1998, पृष्ठ संख्या– 147

7. माओत्से–तुड. की रचनाएं प्रतिनिधि चयन, पृष्ठ संख्या– 213

8. प्रेमचंद के विचार (भाग–2) प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, संस्करण–2008, पृष्ठ संख्या–42

9. सं0 प्रणयकृष्ण–समय का पहिया (गोरख पांडेय की चुनी हुइ कविताएं), संवाद प्रकाशन मेरठ, पहला संस्करण–फरवरी 2004, पृष्ठ संख्या–23

10. व्ला0 ई0 लेनिन– संकलित रचनाएं, खंड–1, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, संस्करण–1988, पृष्ठ संख्या–218

11. ओमप्रकाश बाल्मीकि–शब्द झूठ नहीं बोलते, अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2012, पृष्ठ संख्या–19

12. जय प्रकाश लीलवान– समय की आदमखोर धुन, अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2009, पृष्ठ संख्या– 51

13. बेर्टोल्ट बेष्टः इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां, अनुवाद–मोहन थपलियाल, परिकल्पना प्रकाशन लखनऊ, तृतीय संस्करण– 2002, पृष्ठ संख्या–7

14. माओत्से–तुड. की रचनाएं प्रतिनिधि चयन, पृष्ठ संख्या– 7

15. अंर्स्ट फिशर– कला की जरूरत, अनुवाद–रमेश उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति– 2011, पृष्ठ संख्या– 53

16. जय प्रकाश लीलवान– समय की आदमखारे धुन, पृष्ठ संख्या– 118

17. ओम प्रकाश बाल्मीकि– मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामाजिक प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण– 2010, पृष्ठ संख्या–166

18. फ्रेडरिक एंगेल्स – परिवार, निजी सम्पत्ति ओर राज्य की उत्पत्ति, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण– 1986 पृष्ठ संख्या–212

19. वही, पृष्ठ संख्या–213

20. प्राथमिक स्रोतः डॉ0 बाबा साहेब आबेडकर राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस, वाल्यूम–17, पार्ट–3 द्वितीयक स्रोतः कंवल भारती– सामाजिक आंबेडकर, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2009 पृष्ठ सख्या7 236

21. फ्रेडरिक एंगेल्स– परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृष्ठ संख्या–214

22. राजनीति में जातिवाद की कथित परिघटना असल में 'जाति का राजनीतिकरण' ही है। देखें, सं0 अभय कुमार दुबे, राजनीति की किताब, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, दूसरा संस्करण–2007 पृष्ठ संख्या– 192

23. जय प्रकाश लीलवान– समय की आदनखोर धुन, पृष्ठ संख्या– 78

24. सं0 श्री कैलाश चन्द्र सेठ, श्रीमती भारती नरसिंह्मन– बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय खंड–5, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, तृतीय संस्करण–2011, पृष्ठ संख्या–17

25. सं0 अभय कुमार दुबे– राजनीति की किताब, पृष्ठ संख्या– 78

26. फ्रेडरिक एंगेल्स– परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृष्ठ संख्या– 219

27. सं0– सत्य प्रकाश मिश्रः प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबन्ध, ज्योति प्रकाशन इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण– 2003, पृष्ठ संख्या– 95

28. सं0 प्रणयकृष्णः समय का पहिया (गोरख पांडेय की चुनी हुई कविताएं), संवाद प्रकाशन मेरठ, पहला संस्करण– 2004, पृष्ठ संख्या– 55

Jawaharlal Nehru University Library

TH-20316

29. भूमिका– मैनेजर पाण्डे, सं. रमणिका गुप्ताः दलित–चेतनाः सोच, नवलेखन प्रकाशन बिहार, प्रथम संस्करण–1998, पृष्ठ सख्या– VIII

30. वही, पृष्ठ संख्या– VIII

31. पाब्लो नेरूदाः हाँ, मैने जिंदगी जी है, अनुवाद मनीषा तनेजा, कॉन्फ्लुएंस इंटरनेशनल नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007

32. कंवल भारती– हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, बोधिसत्व प्रकाशन रामपुर (उ0 प्र0) प्रथम संस्करण– 2006, पृष्ठ संख्या–9

33. सं0 अनामिकाः कहती हैं औरतें, इतिहास बोध प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 2007, पृष्ठ संख्या– 186

34. सं0 कंवल भारतीः दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहासबोध प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, जनवरी 2006, पृष्ठ संख्या– 102

35. सं0 सत्य प्रकाश मिश्रः प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबन्ध, पृष्ठ संख्या– 98

36. जब प्रकाश लीलवान– अब हमें ही चलना है, दलित साहित्य प्रकाशन संस्था नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2002 पृष्ठ संख्या– 13

अध्याय 2

दलित साहित्य, आंदोलन व राजनीतिः इतिहास, दृष्टि व निहितार्थ

2.1 दलित मुक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि

इतिहास के बारे मे अभी तक हमारी जो समझ बनी है वह बताती है कि इतिहास एक गढ़न है जो इतिहासकार गढ़ता है। सवाल यह है कि इतिहास गढ़ा क्यों जाता है? दरअसल इतिहास लेखन का सवाल हमारी ज़रूरत से जुड़ा है। इतिहास लेखन की ज़रूरत से ही इतिहासकार का नज़रिया तय होता है। इतिहास वर्तमान के लिए लिखा जाता है किंतु सनद रहे इतिहास वर्तमान का सहायक है उसका गुलाम नहीं। इसलिए इतिहास लेखन में तथ्यों से छेड़छाड़ नहीं होनी चाहिए। इतिहासकार, इतिहास के ज़रिए अपने वक़्त को प्रभावित करना चाहता है। जब मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इतिहास लिखा तो उसके ज़रिए वे साम्यवाद की वकालत कर रहे थे। इसी तरह आज यदि दलित–स्त्री–आदिवासी–अल्पसंख्यक–किसान–मज़दूर इतिहास में दख़ल दे रहे हैं तो उनका मकसद शोषणकारी व्यवस्था की मुख़ालफ़त करना है। उसमें अपने लिए स्पेस तलाशना है। यदि वह नहीं मिलता है तो ख़ुद सत्ताशाली इतिहास के बरक्स उत्पीड़ितों को इतिहास गढ़ना है?

जब–जब दलितों ने ब्राह्मणवाद के खिलाफ क्रांति की शुरूआत की तब–तब ब्राह्मणवाद ने प्रतिक्रांति के ज़रिए उसे दबाने की कोशिश की। भारतीय इतिहास को समझने के लिए डॉ0 आम्बेडकर ने क्रांति–प्रतिक्रांति की अवधारणा पेश की। डॉ0 आम्बेडकर ने भारत के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए कहाः ''सबसे पहली बात तो यह स्वीकार कर लेनी चाहिए कि एक समान भारतीय संस्कृति जैसी कोई चीज़ कभी नहीं रही और यह कि भारत तीन प्रकार का रहा ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिन्दू भारत। इनकी अपनी–अपनी संस्कृतियां रहीं। दूसरी बात यह स्वीकार की जानी चाहिए कि मुसलमानों के आक्रमण के पहले भारत का इतिहास ब्राह्मणवाद और बौद्ध धर्म के अनुयायियों के बीच परस्पर संघर्ष का इतिहास रहा है। जो कोई इन दो तथ्यों को स्वीकार नहीं करता वह भारत का सच्चा इतिहास कभी नहीं लिख सकता।"[1]

इस तरह इतिहास में क्रांति–प्रतिक्रांति की धाराएँ एक साथ सक्रिय रहीं हैं। इसीलिए कार्ल मार्क्स ने कहा था "आज तक अस्तित्वमान समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।"[2]

इतिहास सत्ता का होता है। सत्ता इतिहास के ज़रिए अपना वर्चस्व स्थापित करती है। इसमें धर्म, राजनीति और कला उसके सहायक हो जाते हैं।

भारत में इतिहास लेखन की वैज्ञानिक परंपरा नहीं मिलती। ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति ने प्रत्येक विचार–दर्शन,–इतिहास –कला को धार्मिक आवरण में लपेट कर पेश किया। इससे

शोषण आसान और ईश्वरीय घोषित हो गया। जैसे–जैसे ब्राह्मणवादी सत्ता ने दमन किया ठीक वैसे ही उसके प्रतिरोध में स्वर तेज़ हुआ।

बक़ौल तुलसीराम–"ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दलित आंदोलन की उत्पत्ति वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष से हुई, जिसका इतिहास सदियों से एक दूसरे के समानांतर चला आ रहा है। अर्थात जितनी पुरानी वर्ण व्यवस्था, लग्भग उतना ही पुराना दलित आंदोलन, किंतु उसका रूप हमेशा परिवर्तनशील रहा।"[3]

वर्ण व्यवस्था का प्राचीनतम साक्ष्य 'ऋग्वेद' में मिलता है। वेदों को 'अपौरूषेय' कहा गया है। 'ऋग्वेद' के दसवें मण्ड़ल के 'पुरूष सूक्त' में ब्रह्मा द्वारा चारो वर्णों की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त पेश किया गया। क्रमशः मुख से 'ब्राह्मण', बाहु से 'क्षत्रिय', जंघा से 'वैश्य' और सबसे जघन्य स्थान पैर से 'शूद्र' की उत्पत्ति मानी गई। इस तरह ब्राह्मणवादी सत्ता ने वर्ण व्यवस्था का दैवीय सिद्धान्त प्रतिपादित कर, उस व्यवस्था में शूद्र को सबसे निचले क्रम में रखा। आगे चलकर वर्ण व्यवस्था के ईश्वरकृत होने की गूंज उपनिषदों, स्मृतियों, पुराणों एवं रामायण, महाभारत, व गीता में साफ–साफ सुनाई दी। इस तरह सम्पूर्ण हिन्दू धर्म का साहित्य शूद्र विरोधी हो गया। ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि वैदिक काल तक शूद्रों की स्थिति फिर भी ठीक थी मगर उत्तर वैदिक काल तक वर्ण व्यवस्था ने समाज को पूरी तरह से जकड़ लिया।

इतिहासकार रामशरण शर्मा इस बारे में विचार प्रकट करतें हैं–"वैदिक काल का अंत होते–होते कुछ कटु बातें भी प्रकट होने लगीं। शूद्र के शरीर से स्पर्श होना और कुछ आचारिक अवसरों पर उसे देखना भी निषिद्ध किया जाने लगा"[4]

आगे चलकर चारों वर्ण कई जातियों में बंट गए। जातियों में आपस में खानपान एवं शादी–विवाह निषिद्ध हो गए। वर्ण व्यवस्था एवं जातिवाद को पक्का और स्थायी बनाने के लिए सबसे मजबूत मुहर मनु ने 'मनुस्मृति' के ज़रिए लगाई। 'मनुस्मृति' एक आचार संहिता थी। इसके बाद शूद्रों का खुली हवा में सांस लेना तक दूभर हो गया। यह सब धर्म के ज़रिए हो रहा था इसलिए विरोध की गुंजाइश नहीं थीं। धर्म और सत्ता ने मिलकर ऐसा खेल रचा कि शूद्र इसकी चक्की में पिसते रहे। ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति की मुखालफ़त में उठी सबसे पहली आवाज़ 'लोकायत धर्म' की थी। चार्वाकों ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था एवं उसके द्वारा रचित ईश्वर को खुलकर चुनौती दी। उन्होंने वेदों पर सवाल किए एवं उनकी सत्ता को नकार दिया। लोकायत धर्मावलंबी केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते थे। उन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था के कर्मकाण्डों का बहिष्कार कर दिया। लोकायत धर्म के आचार्य 'वृहस्पति' ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था के मूल वेदों पर प्रहार करते हुए कहा–

"त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त निशाचरः।

जर्भरी तुर्फरीत्यादे पण्डितानां वचः स्मृतम्।।"[5]

अर्थात तीनों वेदों की रचना करने वाले भाखण्डी, धूर्त और निशाचर हैं। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने अपने प्रतिक्रांति के सिद्धान्त के तहत 'चार्वाक दर्शन' को मिटाने की पुरज़ोर कोशिश की। उसके साहित्य को नष्ट कर देया गया। चार्वाकों को ब्राह्मणवादी दर्शन ने उपहास का पात्र बना दिया। इस बारे में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का कहना है– "बेशक, इन भौतिकवादियों के बारे में हमारी जानकारी अधूरी है। अनुमानतः उनकी कृतियां नष्ट कर दी गयी हैं। दुर्भावनाग्रस्त होकर उनकी तुलना विकराल राक्षसों से की गयी, उनकी दार्शनिक स्थिति को इतना विकृत कर दिया गया कि उसे पहचान पाना कठिन हो गया और उनकी युक्ति पद्धति को महज झांसापट्टी के रूप में चित्रित किया गया। भारतीय दर्शन में लोकायत अथवा चार्वाक नाम राक्षसत्व, अभद्रता, नास्तिकता और पाप का प्रतीक मान लिया गया।"[6]

इस तरह भारत के ज्ञात इतिहास में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ़ हुए पहले विद्रोह को प्रतिक्रांति की धारा के तहत विकृत करके उसे दबाने की कोशिश की गई। लोकायत धर्म की आलोचना इस तरह की गई जैसे वह केवल खा–पीकर मौज करने वालों का धर्म हो। जबकि सचाई यह है कि लोकायत धर्म ने पहली बार वर्ण व्यवस्था एवं उसके उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त को ज़बरदस्त टक्कर दी थी। इससे ब्राह्मणवादी व्यवस्था को खतरा महसूस हुआ। लोकायत धर्म के बारे में के0 दामोदरन लिखते हैं– "लोकायतिक केवल इस जीवित जगत में ही विश्वास करते थे किसी अन्य जगत में नहीं। वे सन्यास या मोक्ष या आत्मा में विश्वास नहीं करते थे। उन्हें ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं था जो इस समस्त सृष्टि का सृष्टा हो"[7] किन्तु ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने अपने विरूद्ध खड़े हुए क्रांतिकारी धर्म को विकृत कर दिया एवं उसे दबाने में काफी हद तक सफल भी रहे। लेकिन ब्राह्मणवादी व्यवस्था क्रांति की धारा को रोक नहीं सकी।

ब्राह्मणवादी व्यवस्था को सबसे गहरी चोट बौद्ध धर्म (छठी शताब्दी ई0 पू0) ने दी। बौद्ध धर्म, चार्वाकों से इस मामले में आगे था कि उसने केवल ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर चोट ही नहीं की बल्कि मानवीय एवं विवेक सम्मत वैकल्प भी प्रस्तुत किया। गौतम बुद्ध ने न केवल वेदों की सत्ता को नकारा अपितु अपने अनुयायियों को 'अप दीपो भव' का तर्कसंगत उपदेश भी दिया। उन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था की गुलामी के बरक्स मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत किया। उत्पीड़ित जनता में बौद्ध धर्म को व्यापक स्वीकृति मिली। बौद्ध धर्म ने एक सामाजिक आंदोलन का रूप ले लिया।बौद्ध धर्न के उदय के कारणों पर प्रकाश डालते हुए

के0 दामोदरन कहते हैं–"बुद्ध ने अपने विचारों का प्रतिपादन उस समय आरम्भ किया था जब ब्राह्मणवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था का रूढ़िवाद सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों को दूषित कर रहे थे। वर्णाश्रम नियमों को दैवी विधान माना जाता था क्योंकि उनकी उत्पत्ति वेदों से थी, जिन्हें दैवी प्रमाणिकता प्राप्त थी। अतः बुद्ध ने वेदों की पवित्रता एवं प्रामाणिकता को चुनौती दी।"[8]

इसी क्रम में आचार्य अश्वघोष ने 'वज्र सूची' की रचना की। इस कृति के ज़रिए आचार्य अश्वघोष ने वर्ण व्यवस्था पर सीधे हल्ला बोल दिया। अश्वघोष की अन्य रचनाएं नष्ट कर दी गईं। आज केवल अन्य भाषाओं में उन रचनाओं के अनुवाद भर उपलब्ध हैं। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने प्रतिक्रांति की अवधारणा के तहत अपने खिलाफ़ उठी हर आवाज़ को दबाने की कोशिश की। उनका साहित्य नष्ट कर दिया। परंतु बौद्ध धर्म, जोकि मानवीय धर्म के रूप में उपजा था, जनता के बीच सीधे पहुँचा। बौद्ध धर्म ने इस सिद्धान्त का विरोध किया कि कुछ लोग उच्च वर्ण में जन्म लेने के कारण महान होते हैं और कुछ लोग निम्न वर्ण में जन्म लेने के कारण नीच। इसके विपरीत गौतम बुद्ध ने मानवीय क्रिया–कलापों को उनकी श्रेष्ठता का आधार बनाया। उन्होंने वर्णाश्रम को नकार दिया। मौर्य वंश के पतन के बाद फिर प्रतिक्रांति का दौर आया। ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति ने अपनी पकड़ मज़बूत की और बौद्ध धर्म का लोप हो गया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था इतनी कठोर और इतनी लचीली है कि जब वह विरोध के द्वारा बौद्ध धर्म को दबा नहीं सकी तो उसने बौद्ध धर्म को पचा लिया और गौतम बुद्ध विष्णु का अवतार घोषित कर दिए गए।

छठी शताब्दी तक बौद्ध धर्म में विकृति के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे। बौद्ध धर्म में तांत्रिक प्रथाओं ने जन्म लिया। इनमें सबसे महत्वपूर्ण 'वज्रयान' और उसकी शाखा 'सहजयान' थी। इन्हीं से क्रमशः सिद्ध–नाथ सम्प्रदायों का जन्म हुआ। यह क्रांति की धारा थी जो कि लगातार परिवर्तनशील रही। यह अलग बात है कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था की मुखालफ़त करने के दौरान इसमें काफी विकृत चीज़ें भी जुड़ गईं। सिद्धों की सख्यां 84 बताई गई है। इनमें शूद्र जातियों के कई सिद्ध थे। आठवीं शताब्दी में सरहपा ने सिद्ध सम्प्रदाय में कई परिवर्तन किए। नाथ सम्प्रदाय में सम्मिलित नाथों की संख्या में मतभेद है। गोरखनाथ इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध नाथ हुए। सिद्धों–नाथों ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर प्रहार किया।

साहित्य के इतिहास में उल्लिखित किया गया कि भक्ति की लहर दक्षिण भारत से उत्तर भारत में आई। जबकि उत्तर भारत में सिद्धों–नाथों के आंदोलन को नकार दिया गया। सचाई यह है कि उत्तर भारत का भक्ति आंदोलन ही था जिसने शूद्रों एवं महिलाओं की आवाज़ उठाई। आगे चलकर यही आंदोलन भक्ति आंदोलन के कबीर आदि संतों का प्रेरणा

स्रोत बना।आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने सिद्ध–नाथ साहित्य को 'साम्प्रदायिक साहित्य'[9] कह कर नकार दिया। क्योंकि यह आंदोलन बौद्धवादी था। अगरचे प्रतिक्रांति के ज़रिए इन आंदोलनों को दबाने की पुरज़ोर कोशिश की गई। किंतु आगे चलकर यही आंदोलन कबीर इत्यादि संतों के यहाँ जाकर व्यापक रूप लेते हैं। भक्ति आंदोलन का दूसरा चरण हमें 13वीं शताब्दी में देखने को मिलता है। यह बहुत व्यापक आंदोलन था जिसने जनता के बड़े तबके को अपनी ओर खींचा। के0 दामोदरन इसकी व्यापकता पर रोशनी डालते हुए कहते हैं–

"यह सिद्धान्त कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य फिर वे उँची जाति के हों अथवा नीची जाति के समान हैं, इस आंदोलन का ऐसा केन्द्र बिन्दु बन गया जिसने पुरोहित वर्ग और जाति प्रथा के आतंक के विरूद्ध संघर्ष करने वाले आम जनता के व्यापक हिस्सों को अपने चारों ओर एकजुट किया।"[10]

इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें शूद्र–अतिशूद्र संतो ने व्यापक रूप से हिस्सा लिया। इन संतो ने स्वत्व की पहचान पर बल दिया। ऐसा पहली बार हो रहा था। कबीर ने साफ शब्दों में कहा "जाति जुलाहा नाम कबीरा"[11] रैदास ने उद्घोष किया– "कह रैदास खलास चमारा"[12]। इस तरह शूद्र व अतिशूद्र संत इस आंदोलन में अपनी पहचान के साथ आए। इसका जन–साधारण पर व्यापक प्रभाव पड़ा। मुक्तिबोध साधारण जनता पर इसके व्यापक प्रभाव की चर्चा करते हुए कहते हैं–"सिद्धों और नाथ संप्रदाय के लोगों ने जन–साधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किंतु भक्ति आंदोलन का जन–साधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आंदोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए।"[13]

कबीर, रैदास, नाभा, सेना इत्यादि संतो ने धर्म के सहारे जतिवाद–वर्ण व्यवस्था की मुखालफ़त की। भक्तिकाल में कबीर इत्यादि शूद्र अतिशूद्र संतों का साहित्य, साहित्य में वर्ग संघर्ष है। मुक्तिबोध यही इंगित करने का प्रयास कर रहे थे। वे कहते हैं– "समाज की शासक–सत्ता को यह कब अच्छा लगता? निर्गुण मत के विरूद्ध सगुण मत का प्रारम्भिक प्रसार और विकास उच्चवर्शियों में हुआ। निर्गुण मत के विरूद्ध सगुर्ण मत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरूद्ध उच्चवंशीय अभिरूचिवालों का संघर्ष था।"[14] इस प्रकार शूद्र व अतिशूद्र संतो द्वारा किए गए वर्ण संघर्ष के खिलाफ ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने सगुण मत का प्रचार किया, जिसमें मुक्तिबोध के अनुसार मुसलमान संत तो मिलते हैं, मगर शूद्र नहीं। इसमें

आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि मुक्तिबोध की पैनी निगाह इस आंदोलन में शूद्रों के साथ अतिशूद्र संतों पर नहीं जाती।

कबीर, रैदास इत्यादि शूद्र व अतिशूद्र संतों ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था का विरोध किया। उन्होंने ब्राह्मणवादी संतों से सवाल किए ब्राह्मणवादी शक्तियों ने आम जनता में लोकप्रिय हो रहे इनके आंदोलन को दबाने के लिए हर सम्भव प्रयास किया। तुलसीदास आदि ब्राह्मणवादी संतो ने वर्ण व्यवस्था को पुनः स्थापित करने की पुरज़ोर कोशिश क

फिलवक़्त जो इतिहास हमारे सामने उपलब्ध है उसके अनुसार 'भक्तिकाल' के बाद 'रीतिकाल' का आगमन होता है। भक्ति आंदोलन को यहाँ से समाप्त मान लिया जाता है। किंतु हमारी समझ में यह नहीं आता कि कबीर, रैदास इत्यादि संतों का क्रांतिकारी आंदोलन अचानक कैसे खत्म हो गया? आचार्य राम चन्द्र शुक्ल अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में कहते हैं– "उनका 'निर्गुणपंथ' चल निकला जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।"[15]

आगे वे दादू के बारे में कहते हैं– "उन्होंने अपना एक अलग पंथ चलाया जो दादूपंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[16]

जब कबीर, दादू के पंथ चल निकले तो उन पंथों का साहित्य कहाँ गया? दरअसल हमारे सामने जो इतिहास है, वह अपर्याप्त तथ्यों के आधार पर लिखा गया है। हमारे सामने उपलब्ध तथ्य हैं। हमें अनुपलब्ध या साजिशन दबा दिए गए तथ्यों को भी खोजना होगा। इतिहास में दो धाराएँ विद्यमान रहीं हैं। अभी तक इतिहास में एक ही धारा पर विचार किया गया है। दूसरी धारा उसमें से नदारद है। इतिहासकार अपने भण्डार–गृह से ज़रूरी चीजों को निकालते रहे और बाकी पर ध्यान नहीं दिया। यदि अनुपलब्ध तथ्यों को खोजा जाए तो, दलित मुक्ति आंदोलन की जो कड़ियां बीच–बीच में गायब हैं, वह जुड़ सकती हैं।

इतिहास में क्रांति–प्रतिक्रांति का दौर चलता रहा। दलित मुक्ति आंदोलन को 19 वीं शताब्दी में नई उर्जा देने में ज्योतिबा फूले का महत्वपूर्ण योगदान है। यहाँ से दलित आंदोलन एक नया रूप लेता है क्योंकि इसके बाद दलित आंदोलन, दलित राजनीति में तब्दील हो जाता है। ज्योतिबा फूले ने 1873 ई0 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की तथा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'गुलामगिरी' की रचना भी। फूले की व्यापक दृष्टि का पता उनकी इस किताब से चलता है। उन्होंने इस किताब को 'यूनाइटेड' स्टेट के नीग्रो आंदोलन' में शरीक होने वाले महान लोगों को समर्पित किया है। फूले ने अपने आंदोलन की शुरूआत दलितों–स्त्रियों के लिए स्कूल खोलकर की। यह एक ऐतिहासिक काम था। उनकी जीवन संगिनी सावित्री बाई फूले पूरे आंदोलन में कदम–कदम पर उनके साथ रहीं।

फूले ने कई पुस्तकों की रचना कर ब्राह्मणवादी व्यवस्था का पर्दाफाश किया। उन्होंने शूद्रों की दुर्दशा का ज़िम्मेदार अशिक्षा को माना और कहा– "विद्या के न होने से बुद्धि नहीं, बुद्धि के न होने से नैतिकता न रही, नैतिकता के न होने से गतिमानता न आई, गतिमानता के न होने से धन–दौलत न मिली, धन दौलन न होने से शूद्रों का पतन हुआ। इतना अनर्थ एक अविधा से हुआ।"[17]

फूले ने शूद्रों की दुर्दशा की ज़िम्मेदार नब्ज़ अशिक्षा को पकड़ा। मुसीबतों के बावजूद उन्होंने शूद्रों–स्त्रियों के लिए स्कूल खोले। सही अर्थो में यह नवजागरण था जो ज्योतिबा फूले और उनकी संगिनी सावित्री बाई फूले ने अपने अथक प्रयासों से पैदा किया था। फूले ने शूद्रों–स्त्रियों को उनकी तत्कालीन दशा से बाहर निकालने के लिए आंदोलन छेड़ दिया। पुस्तकें लिखकर, अखबार निकालकर उन्होंने जनता में जागरूकता पैदा करने की कोशिश की। इसके लिए उन्होंने ब्राह्मणवादी शक्तियों की हमेशा आलोचना की। 'ब्राह्मणवाद' की पोल खोलते हुए उन्होंने कहा– ''ब्राह्मण–पुरोहितों ने इन पर अपना वर्चस्व कायम करने के लिए, इन्हें हमेशा–हमेशा के लिए अपना गुलाम बनाकर रखने के लिए केवल अपने निजी हितों को ही मद्देनज़र रखकर, एक से अधिक बनावटी ग्रथों की रचना करने में कामयाबी हासिल की। उन नकली ग्रंथों में उन्होंने यह दिखाने की पूरी कोशिश की कि उन्हें जो विशेष अधिकार प्राप्त हैं, वे सब उन्हें ईश्वर द्वारा प्रदत्त हैं।"[18]

इस तरह फूले आधुनिक दलित मुक्ति आंदोलन के सूत्रधार हैं। डॉ0 आम्बेडकर ने फूले को अपना गुरू स्वीकार करते हुए उनका आंदोलन आगे ले गए और दलित मुक्ति आंदोलन को दलित राजनीति में तब्दील कर दिया। डॉ0 आम्बेडकर ने दलितों के सवाल को राजनीतिक सवाल बनाया। भारतीय इतिहास में डॉ0 आम्बेडकर ऐसे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने दलितों के लिए सामाजिक अधिकारों के साथ राजनीतिक अधिकारों को भी महत्व दिया। दलितों को शक्ति अर्जित करने का आह्वान करते हुए डॉ0 आम्बेडकर ने कहा था–"

"उन्हें शक्ति के लिए प्रयास करना ही होगा। इसे याद रखना ही होगा कि हिन्दुओं और अस्पृश्यों के हितों के बीच वास्तव में टकराव है और भले ही बुद्धि टकराव का शमन कर सके, पर वह कभी भी ऐसे टकराव की आवश्यकता को अनावश्यक नहीं बना सकती शक्ति ही एक हित को दूसरे हित से प्रबल बनाती है। ऐसी दशा में शक्ति को नष्ट करने के लिए शक्ति चाहिए। शक्ति या तो आर्थिक होती है या फिर राजनीतिक। अतः इस बात की आवश्यकता है कि अस्पृश्य यथा संभव अधिक से अधिक राजनीतिक शक्ति प्राप्त करें।"–[19]

डॉ0 आम्बेडकर दलितों के प्रश्न को सत्ता के घेरे में ले आए। किंतु हमें याद रखना चाहिए कि वे जिस सत्ता का सपना दलितों के लिए देख रहे थे उसमें मुक्ति का सवाल अहम था, अन्ततः एक जतिविहीन समाज का सपना डॉ0 आम्बेडकर देख रहे थे। याद रखने वाली बात यह है कि डॉ0 आम्बेडकर ने दलित मुक्ति आंदोलन को राजनीतिक आंदोलन में तब्दील किया मगर वो राजनीति केवल सत्ता की नहीं अपितु दलित मुक्ति की राजनीति थी। एक जाति विहीन समाज के निर्माण की राजनीति थी। इस प्रकार दलित मुक्ति आंदोलन राजनीतिक आंदोलन में बदल गया। डॉ0 आम्बेडकर ने धर्म के मुद्दे पर मानवता एवं करूणा के धर्म बौद्ध धर्म को तरजीह दी। बौद्ध धर्म से उन्होंने अपने आंदोलन के लिए एक नई शक्ति प्राप्त की। इतिहास में क्रांति–प्रतिक्रांति का दौर चलता रहा जो आज भी जारी है। सत्ता ने अपनी प्रतिक्रांति की अवधारणा के सहारे डॉ0 आम्बेडकर के विचारों को दबाने की कोशिश भी की। पहले तो डॉ0 आम्बेडकर को केवल दलितों के नेता के रूप में प्रचारित किया गया और दूसरे उनकी छवि केवल संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष तक सीमित करने की कोशिश की गई। गोया संविधान के अलावा उन्होंने कोई महत्वपूर्ण काम किया ही नहीं था। ब्राह्मणवादी शक्तियां इतनी बारीकी से अपने काम को अंजाम देती हैं कि किसी को पता ही नहीं चलता। बाज़ार एवं घरों में संत रैदास का एक पोस्टर अक्सर दिखता है जिसमें वे बैठकर जूते गाँठ रहे हैं। उनकी कठौती में पानी रखा है जिसमें एक स्त्री आशीर्वाद की मुद्रा में दिख रही है, वह गंगा है। ऊपर लिखा है – 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। यह है ब्राह्मणवादी सत्ता –संस्कृति की चालाकी। इससे पहले ये ब्राह्मणवादी शक्तियां कबीर पर हल्ला बोल चुकी हैं। गौतम बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित कर चुकी हैं। आजकल उनकी नजर डॉ0 आम्बेडकर पर है। प्रतिक्रांति की यही अवधारणा है कि पहले तो नकारो फिर विकृत करो यदि इससे काम नहीं चलता तो उसे पचा जाओ। भारतीय सन्दर्भ में मार्क्सवाद के साथ यही हुआ है।

आज दलित राजनीति और दलित आंदोलन को एक करके देखा जा रहा है इसलिए जो कमियां या सीमाएं दलित राजनीति की हैं उन्हें दलित आंदोलन पर भी थोपा जा रहा है। दलित राजनीति और दलित आंदोलन दोनों अलग–अलग हैं। यह ज़रूर है कि दोनों एक दूसरे को प्रेरित–प्रभावित करते हों। दलित राजनीति की जो भी कमियां या सीमाएं बताई जा रहीं हैं उन्हें दलित आंदोलन ही ठीक करेगा। दलित आंदोलन ज़मीनी स्तर पर सक्रिय है और लड़ाई के लिए कमर कस रहा है। इस तथाकथित 'भूमण्ड़लीकरण' और 'आवारा पूंजी' के समय में दलित आंदोलन नए तेवर के साथ तैयार हो रहा है। दलितों ने 'ब्राह्मणवाद' के 'वसुधैव कुटुम्बकम' को समझा था, उम्मीद है वे नवब्राह्मणवाद–पूंजीवाद के 'ग्लोबल विलेज' को भी समझेंगे।

2.2 दलित आंदोलन की वैचारिकी

किसी भी आंदोलन को चलाने के लिए वैचारिकता की ज़रूरत होती है। यह वैचारिकता उस आंदोलन के उद्देश्य से तय होती है। भारत के इतिहास पर नज़र डालें तो हमें यह कहने में कोई गुरेज़ नहीं होना चाहिए (वैसे किसी भी ईमानदार आदमी को नहीं होना चाहिए) कि लम्बे समय तक हमारा इतिहास ब्राह्मणवादी रहा है। इस इतिहास से जनता हमेशा नदारद रही। यह इतिहास दरबारी चाटुकारों द्वारा राजा–रानियों की प्रशंसा में लिखा गया और सही अर्थो में यह इतिहास नहीं है। इतिहास लेखन में जिस वैज्ञानिकता की ज़रूरत होती है, उसका इसमें आभाव रह है। इस बारे में इतिहासकार लाल बहादुर वर्मा कहते है– "जातकों, महाभारत और पुराणों जैसे प्राचीन ग्रंथों में इतिहास के तत्व मिलते हैं लेकिन कोई भी जानकार उन्हें इतिहास ग्रंथ नहीं मानता। हम जिन अर्थों में आज इतिहास को लेते हैं उन अर्थों में भारत में इतिहास बहुत बाद में लिखा जाने लगा। मध्यकाल के सामंती शासन में अधिकांश इतिहासकार दरबारी और चाटुकार थे। उन्होंने इतिहास कम प्रशस्ति अधिक लिखी।"–[20] ब्राह्मणवादी सत्ता –संस्कृति ने वर्ण व्यवस्था को दैवीय रूप प्रदान कर शूद्रों एवं स्त्रियों को हज़ारों सालों तक गुलाम बनाए रखा। पिछले अध्याय में हम चर्चा कर चुके हैं कि ब्राह्मणवादी वर्चस्व के विरूद्ध दलित आंदोलन प्रत्येक समय में मौजूद रहे हैं। जैसे– जैसे ज़रूरत हुई, इन आंदोलनों का स्वरूप बदलता रहा। 'लोकायत', 'बौद्ध', 'सिद्ध–नाथ', 'निर्गुण आंदोलन' से होते हुए दलित आंदोलन ज्योतिबा फूले और डॉ0 आम्बेडकर तक पहुँचा। इस लम्बे समय में इन आंदोलनों को प्रतिक्रांति और दमन का सामना करना पड़ा। दलित आंदोलन ने अपनी वैचारिकता की निर्मित इन्हीं आंदोलनों से की है।

दलित आंदोलन के प्रेरणा स्रोत गौतम बुद्ध, सिद्ध–नाथ, कबीर–रैदास इत्यादि निर्गुण संत; ज्योतिबा फूले एवं डॉ0 आम्बेडकर इत्यादि हैं। इन सबमें दलित आंदोलन के वैचारिक केन्द्र डॉ0 आम्बेडकर हैं। डॉ0 आम्बेडकर ने इतिहास में पहली बार दलितों के सवाल को एक राजनीतिक सवाल बनाया। डॉ0 आम्बेडकर के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 तुलसी राम कहते हैं– "बीसवीं सदी के तीसरे दशक में भारतीय राजनीति तथा साहित्य का जो भी रूप है, उसकी जड़ में डॉ0 अम्बेडकर का संघर्ष आज भी खाद पानी का काम कर रहा है।"[21]

बौद्ध धर्म में विश्वास रखने के कारण दलित आंदोलन 'समता', 'स्वतंत्रता' एवं 'बन्धुत्व' की बात करता है। उसके केन्द्र में मानव है। वह भाग्य–भगवान को नकारता है। डॉ0 आम्बेडकर से प्रेरणा लेकर दलित आंदोलन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को नकारता है, जिसने सदियों तक उन्हें गुलाम बनाए रखा, उन्हें जानवरों से भी बद्तर स्थिति में जीवन जीने को मज़बूर किया। डॉ0 आम्बेडकर ने हिन्दू समाज व्यवस्था की ठीक पहचान करते

हुए कहा था– "हिन्दू समाज व्यवस्था एक ऐसी समाज व्यवस्था है जिसमें वर्णों को एक दूसरे के ऊपर श्रेणीबद्ध किया गया है। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें वर्णों की प्रतिष्ठा तथा कार्य निर्धारण निश्चित है। हिन्दू सम्राज व्यवस्था एक कठोर सामाजिक प्रणाली है।"[22]

इसी कठोर सामाजिक प्रणाली के विरोध में दलित मुक्ति आंदोलन की शुरूआत हुई थी। दलित आंदोलन का जो स्वरूप है वह सामाजिक विभेद, वर्ण व्यवस्था, जातीगत अत्याचार, सामाजिक संरचनागत अन्याय और गैर समानता के विरूद्ध तैयार हुई विचार प्रक्रिया से निर्मित हुआ है। ज्योतिबा फूले तक जो भी दलित आंदोलन थे उन्होंने हिन्दू समाज व्यवस्था का नकार तो किया किंतु वे कोई ठोस विकल्प पेश नहीं कर पाए। बौद्ध धर्म ने एक हद तक विकल्प पेश किया किंतु आगे चलकर वह भी ब्राह्मणवादी विकृतियों का शिकार हो गया। आगे चलकर बौद्ध धर्म दलितों में डॉ0 आम्बेडकर द्वारा स्वीकार किए जाने के बाद ही लोकप्रिय हुआ। भक्तिकाल के शूद्र व अतिशूद्र संतों यथा कबीर, रैदास इत्यादि ने वर्ण व्यवस्था, जातिवाद का कड़ा विरोध किया, किंतु वह भी किसी विकल्प तक नहीं पहुँच पाए। इन आंदोलनों का महत्व इस बात से कम नहीं हो जाता कि वे कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं कर सके। इनका महत्व इस बात में है कि इन्होंने आगे के आंदोलनों के लिए ज़मीन तैयार की। डॉ0 आम्बेडकर के साथ यह सहुलियत थी कि महाराष्ट्र में फूले ने आंदोलन की ज़मीन तैयार कर रखी थी। डॉ0 आम्बेडकर को उसे उर्वर बनाकर उसमें राजनीतिक आंदोलन की फसल उगानी थी। उन्होंने ऐसा किया भी। अगरचे यह काम बहुत कठिन था।

डॉ0 आम्बेडकर ने अपने पूर्व के दलित आंदोलनों से पर्याप्त ऊर्जा ली। उन्होंने गौतम बुद्ध, कबीर तथा फूले का अपना गुरू माना। धर्म के सवाल पर उन्होंने मानवतावादी बौद्ध धर्म को तरजीह दी। इस तरह डॉ0 आम्बेडकर ने दलितों की मुक्ति का एक मार्ग प्रस्तुत किया। जिस मार्ग पर चलकर दलित मुक्त हो सकते हैं और एक जातिविहीन समाज की खुली हवा में सांस ले सकते हैं। चुनांचे दलित आंदोलन की वैचारिकी के केन्द्र में डॉ0 आम्बेडकर का चिंतन है। जिस समय डॉ0 आम्बेडकर सक्रिय थे, वह समय भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का समय था। पूरा देश अंग्रेजों से मुक्ति चाहता था। दलितों की मुक्ति की तरफ किसी का ध्यान नहीं था। डॉ0 आम्बेडकर तब दलितों के मुद्दे को राष्ट्रीय पटल पर लेकर आए। जाति की समस्या पर बिना विचार किए, कांग्रेस स्वराज की मांग कर रही थी। डॉ0 आम्बेडकर ने उस संभावित स्वराज पर सवालिया निशान लगाते हुए कहा– "मेरे विचार से हिन्दू समाज जब एक जाति विहीन समाज बन जाएगा, तभी इसके पास स्वंय

को बचाने के लिए काफी शक्ति होगी। इस आंतरिक ताकत के बिना हिन्दुओं के लिए स्वराज, गुलामी की ओर केवल एक कदम होगा।"—[23]

19 वीं शताब्दी में कुछ हिन्दू उच्चवर्णीय समाज सुधारक भी थे जो तमाम सामाजिक मुद्दों पर आंदोलन चला रहे थे। डॉ0 आम्बेडकर का आंदोलन कैसे उनसे अलग था, हमें यह भी देख लेने की ज़रूरत है। इन उच्चवर्णीय समाज सुधारकों में राजाराम मोहनराय, स्वामी विवेकानन्द सरस्वती और स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रमुख हैं। इन उच्यवर्णीय समाज सुधारकों के दलितों में स्वीकार्य न हो पाने के क्या कारण हैं? उन कारणों की तह में जाए बिना हम यह नहीं समझ सकते कि डॉ0 आम्बेडकर का आंदोलन इनसे कैसे अलग है और क्यों उसे दलितों में व्यापक स्वीकार्यता मिली? सबसे पहले तो यह जान लेने की ज़रूरत है कि उस समय दो तरह के आंदोलन सक्रिय थे। एक—सुधारवादी आंदोलन और दूसरा परिर्वतनकामी आंदोलन। ये उच्चवर्णीय समाज सुधारक सुधारवादी आंदोलन में विश्वास रखते थे। ये सुधारक वर्तमान व्यवस्था में ही कुछ सुधार कर उसे बनाए रखना चाहते थे। ये किसी प्रकार के मुक्ति के मॉडल में विश्वास नहीं रखते थे। इन्होंने जाति को कभी निशाना नहीं बनाया, बस जाति प्रथा पर बात करते रहे। उसके खात्मे को लेकर कोई बड़ा प्रयास उन्होंने नहीं किया।

डॉ0 आम्बेडकर ऐसे समाज सुधार आंदोलनों की विफलता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं— "तब यह कैसे हुआ कि सामाजिक सुधार दल लड़ाई हार गया। इसे सही—सही रूप में समझने के लिए इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि समाज सुधारक किस प्रकार के समाज सुधार के लिए आंदोलन कर रहे हैं। इस संबंध में यह आवश्यक है कि हिन्दू परिवार के सुधार के अर्थ में समाज सुधार और हिन्दू समाज के पुनर्गठन तथा पुनर्निर्माण के अर्थ में समाज सुधार, इन दोनों में अंतर किया जाए। पहले प्रकार के समाज सुधार का संबंध विधवा विवाह, बाल—विवाह आदि से है, जब कि दूसरे प्रकार के समाज सुधार का संबंध जाति प्रथा के उन्मूलन से है। ... वे जो लड़ाई लड़ रहे थे, वह परिवार के सुधार के प्रश्न पर ही केन्द्रित थी। इसका संबंध जाति प्रथा को तोड़ने के अर्थ में समाज सुधार से नहीं था।"—[24]

अगरचे डॉ. आम्बेडकर ने यह बात 'सामाजिक सम्मेलन' के विषय में कही थी किंतु यह 'ब्रह्म समाज' और 'आर्य समाज' पर भी उतनी ही सटीक है।

राममोहन राय अपने आंदोलन को ब्राह्मणों के बाहर नहीं ले जा पाए। इस बारे में सुवीरा जायसवाल का विचार है— "राममोहन राय का मुख्य योगदान विवेकपूर्ण विश्वदृष्टि को प्रोत्साहन देने और स्त्रियों के उन्नयन में निहित था। लेकिन जातिगत भेदभाव का विरोध

करते हुए भी उन्होंने अपने ब्रह्मों समाज में ब्राह्मणों के अलावा किसी को भी वेदों तथा उपनिषदों के पाठ का दायित्व नहीं सौंपा। ब्रह्मों की गतिविधियां मुख्य रूप से शिक्षित मध्यवर्ग तक सीमित थी। उनमें जनसाधारण का समावेश नहीं था।"[25]

इसके बरक्स आर्य समाज के आंदोलन का फलक अधिक विस्तृत था। किंतु जाति उन्मूलन के मुद्दे पर उसने कोई ठोस काम नहीं किया। वास्तव में आर्य समाजी जाति के स्वरूप का थोड़ा बदलकर उसे बनाए रखना चहते थे। इन समाज सुधारकों ने जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए कभी कमर नहीं कसी। आर्य समाज की विफलता पर सुवीरा जायसवाल लिखती हैं– "अपनी विशेष पहचान कायम करने में आर्य समाज की विफलता का वास्तविक कारण यह था कि वह अपने सदस्यों की जातीय पहचान को मिटा नहीं सका। फलतः वह हिन्दू धर्म का मात्र एक सुधारवादी संप्रदाय बनकर रह गया।"[26]

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार हिन्दू उच्चवर्णीय समाज सुधारक अन्ततः हिन्दूवादी दायरे में ही काम कर रहे थे। उन्होंने जाति उन्मूलन के लिए कोई ठोस कदम कभी नहीं उठाए। वे सब समाज सुधारक हिन्दू उच्चवर्णीय समाज के स्वीकार्य नेता थे यदि वे चाहते तो जाति समाधान के लिए कुछ ठोस काम कर सकते थे। ऐसा न करके वे अपनी हिन्दूवादी मानसिकता का पता देते हैं। चुनांचे दलित आंदोलन में उन्हें कभी स्वीकार्यता नहीं मिली। इन समाज सुधार आंदोलनों की गति पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार सुमित सरकार लिखते हैं– "इन प्रकार समाज–सुधारकों के विशिष्ट लक्ष्य एक प्रभुत्वपूर्ण अखिल–हिंदू पुनरूत्थानवाद की रूप रेखा में समाहित हो गए।"[27] इसके विपरीत डॉ0 आम्बेडकर का आंदोलन था। डॉ0 आम्बेडकर समझ चुके थे कि बिना जाति प्रथा का उन्मूलन किए इस देश में कोई बदलाव नहीं हो सकता। जाति प्रथा का खात्मा किए बिना आने वाले स्वराज पर भी उन्होंने सवाल खड़े किए। इसके लिए वह तत्कालीन भारतीय राष्ट्रीय राजनीति की सबसे बड़ी शख्सियत महात्मा गाँधी से टकराए। डॉ0 आम्बेडकर ने हिन्दू धर्म की विषमता की कलई उघाड़ते हुए कहा था– "हिन्दू समाज एक मीनार है और एक–एक जाति इस मीनार का एक–एक तल (मंजिल) है। ध्यान देने की बात यह है कि इस मीनार में सीढ़िया नहीं हैं, एक तल से दूसरे तल में जाने का कोई मार्ग नहीं है। जो जिस तल में जन्म लेता है वह उस तल (जाति) में मरता है। नीचे के तल का मनुष्य कितना ही लायक हो उसका ऊपर के तल में प्रवेश संभव नहीं। परन्तु ऊपर के तल का मनुष्य चाहे कितना भी नालायक हो उसे नीचे के तल में धकेल देने की हिम्मत किसी में नहीं।"[28]

हिन्दू धर्म की विषमता का अध्ययन करते हुए डॉ0 आम्बेडकर इस नतीजे पर पहुँचे कि– "चाहे आप किसी भी दिशा में देखें, जाति एक ऐसा दैत्य है, जो आपके मार्ग में खड़ा है। आप जब तक इस दैत्य को नहीं मरोगे, आप न कोई राजनीतिक सुधार कर सकते हैं, न कोई आर्थिक सुधार।"[29]

किन्तु इससे अलग महात्मा गाँधी वर्ण व्यवस्था तथा जाति प्रथा को बचाए रखना चाहते थे। गाँधी अस्पृश्यता के खिलाफ रहे मगर उसकी वर्ण व्यवस्था के खिलाफ कभी नहीं रहें। उनका विश्वास था कि हिन्दुओं का 'हृदय परिवर्तन' होगा और वे अस्पृश्यता का विचार स्वयं त्याग देगें। गाँधी की मूल चिन्ता हेन्दू धर्म को बचाए रखने की थी इसलिए वे वर्ण–जाति व्यवस्था का खात्मा किसी भी हाल में नहीं चाहते थे। इस तरह डॉ0 आम्बेडकर और महात्मा गाँधी एक दूसरे के विपरीत ध्रुवों पर खड़े थे। अतः दोनो में टकराहट अवश्यसम्भावी थी।

गाँधी अंत तक अपनी इस बात पर अडिग रहे कि– "अछूतों के कारण जाति व्यवस्था को समाप्त करना उतना ही गलत है, जितना कि किसी भद्दी अंग–वृद्धि के लिए शरीर को और खर–पतवार की वजह से फसल के नष्ट कर देना। इसलिए, जिसे हम अछूतपन कहते हैं, उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया जाना चाहिए। यदि सारी व्यवस्था को नष्ट होने से बचाना है तो इस अतिरेक का उच्छेदन आवश्यक है। छुआछूत जाति–व्यवस्था के कारण उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि हिन्दू धर्म में ऊँच–नीच के भेदभाव के कारण उत्पन्न हुई है। इसलिए छुआछूत पर आक्रमण इस ऊंच–नीचपने पर आक्रमण है। जिस क्षण छुआछूत का उन्मूलन हो जाएगा, जाति व्यवस्था स्वंय शुद्ध हो जाएगी अर्थात, मेरे स्वप्न के अनुसार, सच्चे वर्ण–धर्म की स्थापना हो जाएगी।"–[30] तो यह था गाँधी के सपनो का भारत जहाँ चारो वर्णों–जातियों के लोग आपस में प्रेम से रहेंगे। तथा धार्मिक दायरे में काम करेंगे। यह तुलसीदास का 'राम राज्य' था जिसे साकार करने का स्वप्न गाँधी देख रहे थे।

दलितों को अलग राजनीतिक अधिकार दिए जाने की मांग का गाँधी ने विरोध किया। वे अनशन पर बैठ गए अन्ततः सन् 1932 ई0 में पूना पैक्ट हुआ। इस समय तक डॉ0 आम्बेडकर को यह एहसास हो गया था कि इस लड़ाई में वह कहाँ और कैसे खड़े हैं? पूना पैक्ट के ठीक 6 दिन बाद गाँधी के नेतृत्व में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की गई। गाँधी को लगा कि पूना पैक्ट के बाद कहीं दलितों में उनकी छवि खलनायक की न बन जाए और डॉ0 आम्बेडकर का दलित आंदोलन किसी ऐतिहासिक मुकाम तक न पहुँच जाए, इसलिए गाँधी ने 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। कांग्रेस की राजनीति में दलित प्रतिनिधि के रूप में बाबू जगजीवन राम को सामने लाया गया। जो वास्तव में डॉ0 आम्बेडकर की काट थे। हरिजन आंदोलन की राजनीति पर प्रसिद्ध इतिहासकार सुमित

सरकार का आकलन है कि– "गाँधी जी के अन्य जन–आंदोलनों की भांति इस आंदोलन में भी विस्तार के साथ नियन्त्रण भी था, क्योंकि गाँधी जी ने जान–बूझकर हरिजन आंदोलन को सामाजिक सुधार (हरिजनों के लिए सार्वजनिक कुओं, सड़कों, और विशेष रूप से मंदिरों को खुलवाना, साथ में मानवतावादी कार्य) तक सीमित रखा था, और किसी भी प्रकार की आर्थिक मांगों से अलग रखा था, (यद्यपि अनेक हरिजन खेतिहर मजदूर थे), साथ ही उन्होंने समग्र रूप से जाति–व्यवस्था की भर्त्सना करने से इनकार कर दिया। उन्होंने रोटी–बेटी के व्यवहार में सावधानी बरतने की सलाह दी और मूल वर्णाश्रम धर्म की हिमायत की।"[31]

इस तरह गाँधी का हरिजन आंदोलन और बाबू जगजीवन राम ने डॉ0 आम्बेडकर के आंदोलन को काफी हद तक नुकसान पहँचाया। डॉ0 आम्बेडकर यह अच्छी तरह समझ चुके थे कि जाति उन्मूलन की लड़ाई स्वराज की लड़ाई से बहुत कठिन है। अपने ऐतिहासिक लेख 'जाति प्रथा उन्मूलन' में उन्होंने कहा– "आपका राष्ट्रीय आंदोलन अन्य राष्ट्रीय आंदोलनों से कठिन हैं, जैसे कि स्वराज। स्वराज के लिए संघर्ष में सारा राष्ट्र आपके साथ संघर्ष करता है। लेकिन आपके आंदोलन में आपको अपने ही राष्ट्र के साथ लड़ना पड़ता है। लेकिन यह आंदोलन स्वराज से ज्यादा महत्वपूर्ण है।"–[32]

डॉ0 आम्बेडकर का आंदोलन इस तरह के अनेक उतार–चढ़ाव से होता हुआ आगे बढ़ा। दलित मुक्ति आंदोलन की वैचारिकी इन ऐतिहासिक उतार–चढ़ावों से सबक लेते हुए निर्मित हुई है। इसलिए दलित आंदोलन की वैचारिकी के लिए डॉ0 आम्बेडकर ज़्यादा महत्वपूर्ण हो जाते हैं। गौतम बुद्ध, कबीर, रैदास, फूले और डॉ0 आम्बेडकर इत्यादि से प्रेरणा लेकर दलित आंदोलन आगे बढ़ रहा। दलित आंदोलन के केन्द्र में मनुष्ये है और वह हर प्रकार के वर्चस्व के खिलाफ खड़ा है। अपनी खास संरचना में दलित आंदोलन दो बुनियादी चीज़ों की मांग करता है– लोकतन्त्र और धर्म निरपेक्षता। दलितों के लिए लोकतन्त्र (संसदीय ढ़ाचे का वर्तमान लोकतन्त्र नहीं) हितकर है, यह बात साबित हो चुकी है। जो 'व्यक्ति–विचार–संस्था', लोकतन्त्र और धर्म निरपेक्षता का स्पेस कम करने की कोशिश करते हैं, दलित आंदोलन उनका विरोध करता है। बौद्ध धर्म में विश्वास रखने के कारण दलित आंदोलन हिंसा को नकारता है।

शुरू से ही दलित आंदोलन, मार्क्सवाद से दूरी बनाकर चल रहा है। डॉ0 आम्बेडकर ने अपने समय में मार्क्सवादियों से सवाल किए थे, जिनका समुचित जवाब मार्क्सवादी खेमे से अभी तक नहीं आया। दरअसल समस्या यह है कि मार्क्सवाद को हमने पश्चिम से ग्रहण किया है। होना यह चाहिए था कि भारतीय मार्क्सवादी, मार्क्सवाद को भारतीय रूप में ढालते। मगर वे वर्ग को पकड़ कर बैठ गए और वर्ण–जाति की भारतीय असलियत को भूल गए। डॉ0 आम्बेडकर ने मार्क्सवादियों को समझाते हुए कहा था– "जाति–व्यवस्था

केवल श्रमिकों का विभाजन करने वाली व्यवस्था नहीं है– जो कि श्रम के विभाजन से सर्वथा भिन्न है, बल्कि वह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों के विभाजन की श्रेणी एक–दूसरे के ऊपर निर्धारित की गई हैं।"–[33]

भारत में मार्क्सवाद के साथ यह दिक्कत रही कि जिन वर्गो–जातियों की मुखालफ़त में खड़ा होना था, उन्हीं वर्गों–जातियों के लोग उसके सर्वेसर्वा बन गए। इस तरह उन लोगों ने मार्क्सवाद का स्वरूप ही विकृत कर दिया। अब होना यह चाहिए कि मार्क्सवादी और दलित आंदोलनकर्ता विचार कर एक दूसरे की तरफ बढ़ें। इससे दलित आंदोलन को एक नया तेवर मिलेगा। इस बारे में प्रसिद्ध दलित चिंतक कंवल भारती का मानना है– "इसलिए रेडिकल मार्क्सवाद के साथ रेडिकल आंबेडकरवाद के गठन की सख़्त ज़रूरत है। डॉ0 राजाराम की मानें तो रूस में मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को मिलाकर रूसी जनता ने क्रांति की, चीन में मार्क्सवाद के साथ माओवाद को मिलाकर चीनी जनता ने क्रांति की, तो भारत में मार्क्सवाद के साथ आंबेडकरवाद को मिलाकर क्रांति क्यों नहीं हो सकती?"–[34]

सवाल वाज़िब और सोचने लायक है। मार्क्सवादियों को चाहिए कि वे इतनी ईमानदारी दिखाएं कि जिससे मार्क्सवाद–आम्बेडकरवाद भविष्य में एक मोर्चा बना सकें। इस तरह दलित मुक्ति आंदोलन की वैचारिकी का निर्माण गौतम बुद्ध, सिद्ध–नाथ, कबीर–रैदास, फूले और डॉ0 आम्बेडकर इत्यादि के विचारों को मिलाकर हुआ है। किन्तु राजनीति में डॉ0 आम्बेडकर का नेतृत्व प्रखर होने से दलित आंदोलन में उन्हें प्रतिनिधित्व मिला है। वर्तमान समय में दलितों के सामने नई समस्याएं मुँह बाए खड़ी हैं। आज बाज़ार जिस तरह से हमारे घरों में धुस आया है वह चिंता का विषय है। बाज़ार शुरूआती रूप में अपनी लोकलुभावन योजनाओं से हमें आकर्षित कर रहा है, अंत में यह हमें आतंकित ही करेगा। भूमण्डलीकरण का जो नव उदारवादी चेहरा हमें दिखाया जा रहा है असलियत में वह पूंजी का विकट भ्रमजाल'–[35] है। बाज़ार में भी दलितों के लिए जगह नहीं है। अभय कुमार दुबे के शब्दों में – "आधुनिकता ने पंरपरा के साथ एक खुफिया समझौता कर लिया है।"–[36] इन सब मुश्किलों से निपटते हुए दलित आंदोलन अपना रास्ता तैयार कर रहा है।

2.3 दलित राजनीति

भारतीय राजनीति का चरित्र शुरूआत से ही जातिग्रस्त रहा है। जाति हमारे समाज की एक ऐसी सचाई है जो व्यक्ति के निजी जीवन से लेकर समाज सरकार तक में हर जगह मौजूद है। जाति व्यवस्था जहाँ उच्चवर्णीय हिन्दू के लिए तमाम सुख–सुविधाओं और जाति दम्भ का साधन है, वहीं एक दलित के लिए वह उत्पीड़न का कारण बनती है। जाति व्यवस्था को दरकिनार करके कोई भी भारतीय समाज का सही आकलन नहीं कर सकता।

अगर कोई ऐसा दावा करता है, तो वह आकलन वैसे ही होगा जैसे किसी देश के भूगोल को जाने बिना उसका इतिहास पढ़ना। हिन्दू समाज अगर इतिहास है, तो जाति व्यवस्था उसका भूगोल। दोनों एक दूसरे के बिन अधूरे और बेकार हैं। अपने समय के तमाम चिंतकों में डॉ0 आम्बेडकर ने इस तथ्य को ठीक–ठीक समझा था। चुनांचे वे जाति व्यवस्था उन्मूलन के लिए जीवन भर लड़ते रहे, और 1956 ई0 में बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए। क्योंकि इतिहास (हिन्दू समाज) अपने भूगोल (जाति व्यवस्था) को किसी भी हाल में छोड़ना नहीं चाहता था।

दलित राजनीति की शुरूआत डॉ0 आम्बेडकर से मानी जाती है। डॉ0 आम्बेडकर के आगमन से पूर्व जो आंदोलन थे, उनसे प्रेरणा लेकर आम्बेडकर ने राजनीतिक आंदोलन की नींव रखी। अर्थात डॉ0 आम्बेडकर के समय में दलित आंदोलन, दलित राजनीति में तब्दील हो गया। डॉ0 आम्बेडकर की दलितों के लिए सत्ता की मांग को परिभाषित करते हुए कहते हुए प्रवेश कुमार कहते हैं– "डॉ0 अम्बेडकर का अटूट विश्वास था कि देश की जाति आधारित सामाजिक सत्ता समय के साथ राजनैतिक सत्ता में परिवर्तित हो जाती है और तत्पश्चात ये राजनैतिक सत्ता ही अधिक प्रभावी बन जाती है। इसीलिए अगर अस्पृश्य इस राजनैतिक सत्ता पर कब्जा कर लेंगे तो, अपनी हिस्सेदारी और सामाजिक सम्मान को भी स्वंय पर लेंगे।"[37]

मगर सनद रहे कि डॉ0 आम्बेडकर का राजनैतिक आंदोलन दलितों की मुक्ति के लिय था और अन्ततः उसका लक्ष्य एक जातिविहीन समाज का निर्माण था। आम्बेडकर के सपनों का समाज, गाँधी के 'राम राज्य' के एकदम विपरीत था। आम्बेडकर जड़ समाज के हमेशा विरोधी रहे। अपने सपनों के समाज के बारे में उन्होंने कहा था– "अगर आप मुझसे पूछें तो मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो। ... आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए।"[38]

पूना पैक्ट (1932) के बाद तस्वीर साफ हो चुकी थी। गाँधी का हरिजन–आंदोलन, कांग्रेस में बाबू जगजीवन राम का उभार, अन्ततः 1937 के आम चुनाव, यह सब राष्ट्रीय राजनीति

के जातिवादी चरित्र को ही सामने लाते हैं। कांग्रेस से लेकर कम्युनिस्ट पार्टी तक में उच्चवर्णीय हिन्दू अगुआ बने बैठे थे। 1937 ई0 के आम चुनाव में कांग्रेस की ब्राह्मणवादी मानसिकता खुलकर सामने आती है। कांग्रेस की पोल खोलते हुए डॉ0 आम्बेडकर कहते हैं– "कांग्रेस ने सत्ता के स्थान पर ब्राह्मण शासक वर्ग को ही बिठाया था। कांग्रेस ने इससे भी बढ़ कर और कार्य किया। ... कांग्रेस हाई कमान ने उम्मीदवारों के चुनावों के लिए जो नीति निर्धारित की थी और उसके अनुसार उच्चतम श्रेणी की शैक्षिक योग्यता प्राप्त ब्राह्मण को प्राथमिकता देना और ब्राह्मण तथा अनुसूचित जातियों के उन उम्मीदवारों को प्राथमिकता दी जाती थी, जो कम से कम योग्यता प्राप्त हों।"–[39]
आगे वे इस नीति की पोल खोलते हुए कहते हैं कि ऐसा इसलिए किया गया ताकि गैर ब्राह्मणों व अस्पृश्यों को मन्त्रीमण्डल में शामिल करने से रोका जा सके और संभावित बगावत पर भी नकेल डाली जा सके।

इस तरह कांग्रेस शुरू से ही ब्राह्मणवादी मानसिकता से ग्रस्त रही है। 'गोलमेज परिषद' में दिया गया गाँधी का बयान जिसमें उन्होंने कांग्रेस को अस्पृश्यों समेत समस्त भारत का प्रतिनिधित्व करने वाला संगठन कहा था। डॉ0 आम्बेडकर ने गाँधी के इस बयान को बचकाना करार दिया था। असलियत भी यही थी। इतिहास गवाह है गाँधी और कांग्रेस ने अस्पृश्य हितों का खाली दिखावा किया था। उनके लिए किसी प्रकार के ठोस कदम गाँधी और कांग्रेस ने कभी नहीं उठाए। पिछले अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका हैं। गाँधी और कांग्रेस ने दलितों के लिए जो थोड़ा बहुत दिखावे के लिए किया, उसका कारण यह था कि डॉ0 आम्बेडकर हिन्दू धर्म त्यागने की बात कर रहे थे। यही वह कारण था जिसकी वजह से कांग्रेस तो क्या सावरकर जैसे कट्टर हिन्दू भी दलितों में कुछ सुधार की चेष्टा कर रहे थे। ए0 आर0 देसाई लिखते हैं– 'सावरकर जैसे जो हिंदू हिन्दू राज की मांग करते थे, उन्होंने भी दलित जातियों में सुधार की चेष्टा की। इसकी वजह यह थी कि अछूत लगातार धर्म परिवर्तन कर इस्लाम या ईसाई धर्म में शामिल हो रहे थे (क्योंकि उन्हें वहाँ अधिक सामाजिक साम्य प्राप्त था), जिसके कारण हिन्दू धर्म को मानने वालों की संख्या घटती जा रही थी और हिन्दू राज की मांग करने वालों के लिए बहुत बड़ा संकट था।"–[40] गाँधी और कांग्रेस भी हिंदुओं को अल्पसंख्यक नही बनने देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने पूरा ज़ोर लगा दिया।

पूना पैक्ट के बाद गाँधी और आम्बेडकर दोनों ने सोच–समझ कर अपनी भविष्य की योजना बनाई। गाँधी का हरिजन आंदोलन मात्र प्रतीकात्मक था वहीं आम्बेडकर की सोच उन्हें जाति से वर्ग की ओर ले जा रही थी। 1937 ई0 में उन्होंने 'इंडिपेंडेट' लेबर पार्टी'

शिकार हो गई। पार्टी के बड़े नेताओं ने कांग्रेस से हाथ मिला लिया और एक बदलाव की बेहतर राजनीति का अन्त हो गया। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया की एकमात्र उपलब्धि 1964 ई0 का महाराष्ट्रीयन भूमि आन्दोलन रहा।

इसके बाद 1971 ई0 दलित पैंथर के गठन तक टूट–फूट की राजनीति का दौर चलता रहा। दलित पैथंर का गठन उन नव बौद्धों ने किया था जो डॉ0 आम्बेडकर के विचारों से लैस थे और कॉलेज से बाहर आने पर सब कुछ टूटा–बिखरा हुआ देखकर निरूत्साहित नहीं हुए बल्कि नया बनाने में जुट गए। दलित पैंथरों ने अमेरिका के 'ब्लैक पैंथर' आंदोलन से प्रेरणा लेकर इसकी स्थापना की। इनका फलक बहुत व्यापक था। दलित के बारे में इनकी राय थी– "अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के सदस्य, नव–बौद्ध, मजदूर लोग, भूमिहीन तथा गरीब कृषक, महिलाएँ तथा वे सभी लोग जिन्हें धर्म के नाम पर एंव राजनैतिक तथा आर्थिक तौर पर शोषित किया जा रहा है।"[42]

इस तरह दलित पैंथर ने एक जुझारू आंदोलन का रूप ले लिया। ये कई बार महाराष्ट्र में अपने विरोधियों से सीधे–सीधे टकराए। दलित पैंथर का घोषणा पत्र बहुत उम्मीदें जगाने वाला था। बाद में संगठन दो धड़ों में विभाजित हो गया। एक धड़ा आम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद दोनों को आत्मसात करके आगे बढ़ने की बात कर रहा था, तो दूसरा केवल आम्बेडकरवाद को लेकर। अन्ततः संगठन कई धड़ों में बिखर गया। फिर भी दलित पैंथर ने दलित आंदोलन को प्रभावित किया और भविष्य के वाम–आम्बेडकर गठजोड़ की उम्मीदों को ज़िन्दा किया। डॉ0 आनन्द तेलतुम्बड़े दलित पैंथर आंदोलन का मूल्यांकन करते हुए इस नतीजे पर पहुँचते हैं– "यह तथ्य है कि ऐसा पहली बार हुआ कि दलित पैंथर ने दलितों को पहली बार आमूल परिवर्तनवादी आम्बेडकर से रूबरू कराया और दलित युवकों के एक हिस्से को इसे स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया और इस तरह निश्चित तौर पर उन्होंने दलित आंदोलन पर अपनी सकारात्मक छाप छोड़ी।"[43]

उत्तर भारत में दलित राजनीति के लिए 80 का दशक बहुत उम्मीदें लेकर आया। इसी दशक में दलित राजनीति में 'बहुजन नायक काशीराम' का उदय होता है। कांशीराम ने 1978 ई0 में 'बामसेफ' (बैकवर्ड एंड मॉइनोरिटी कम्युनिटीज इम्पलाईज फेडरेशन) की स्थापना की। 2–3 सालों में ही बामसेफ के कैडर में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। दलित–पिछड़े और अल्पसंख्यक समुदाय के कर्मचारी लगातार बामसेफ की तरफ आकर्षित हो रहे थे। कैडर की बढ़ती हुई संख्या देखकर 1981 ई में 'डी0 एस0–4' (दलित शोषित समाज संघर्ष समिति) की स्थापना की। बामसेफ ने कांशीराम को आर्थिक आधार प्रदान किया, अब डी0 एस0–4 बनाकर उन्होंने राजनीतिक कार्यक्रम लागू करने की सोची। कांशीराम ने दलितों में

जनाधार बनाने के लिए देशभर में साईकिल रैली आयोजित की। 1982 ई0 में पूना पैक्ट के 50 साल पूरे होने पर उन्होंने धिक्कार रैली निकाली और अपनी प्रसिद्ध किताब 'चमचा युग' प्रकाशित की। इसी साल कांशीराम ने प्रयोग के तहत हरियाणा चुनाव में अपने प्रत्यासी खड़े किए और 1.19 प्रतिशत वोट हासिल किए। 1983 ई0 में उन्होंने जम्मू में भी ऐसा ही प्रयोग किया और सफल रहे। इन सब से उत्साहित होकर 1984 ई0 में बहुजन सामज पार्टी का गठन किया।

1993 ई0 में उत्तर प्रदेश मे पहली बार समाजवादी पार्टी–बहुजनसमाज पार्टी के गठबन्धन से उ0 प्र0 में सरकार बनी और मुलायम सिंह यादव उसमें मुख्यमन्त्री बने। यह एक ऐतिहासिक अवसर था। दलितों–पिछड़ों के इस गठबन्धन से सामाजिक परिवर्तन की राजनीति में विश्वास करने वालों को बहुत उम्मीदें थी। साथ ही यह देश के 'ब्राह्मणवाद' के लिए खतरे की सूचना थी। किंतु यह गठबन्धन ज़्यादा दिनों तक नहीं चल पाया। इसकी कमज़ोरियां खुल कर सामने आने लगी। फलतः 1995 में गठबन्धन टूट गया। बसपा को अपनी नीतियों को लागू करने के लिए सत्ता चाहिए थी अतः उसने भाजपा के सहयोग से सरकार बनाई और मायावती पहली बार उत्तर प्रदेश की मुख्यमन्त्री बनीं। इतना तो तय है कि बसपा जिस सामाजिक परिवर्तन की राजनीति कि बात करती है, वह सत्ता में रहकर ही हो सकता है। इसलिए बसपा ने समझौते करके सरकार बनाई। 1997 ई0 में मायावती, भारतीय जनता पार्टी के सहयोग दूसरी बार मुख्यमन्त्री बनीं, मगर सरकार 6 महीने बाद गिर गई। इस बार एक खास बात यह थी कि चुनाव बसपा ने कांग्रेस के साथ मिलकर लड़ा था मगर सरकार भाजपा के सहयोग से बनाई। 2002 ई0 में भाजपा से गठबन्धन कर मायावती तीसरी बार सूबे की मुख्यमन्त्री बनीं मगर यह सरकार भी ज़्यादा दिनों तक नहीं चल पायी। इसके बाद 2007 ई0 के चुनावों में मायावती ने अकेले बसपा के दम पर सरकार बनाई। 2012 के चुनावों में बसपा को सपा से करारी शिकस्त मिली। 2007–2012 की सरकार ने अपने 5 वर्ष पूरे किए थे। यह 1984 ई0 (बसपा का गठन वर्ष) से लेकर 2012 ई0 (बसपा की करारी हार) तक का लेखा–जोखा है जिसमें मायावती 4 बार सूबे की मुख्यमन्त्री बनीं। भारत के इतिहास में एक ऐतिहासिक दौर था कि एक दलित महिला किसी सूबे की मुख्यमन्त्री बनीं। बसपा और उसकी सुप्रीमों मायावती के शुरूआती तेवर देखकर लगा कि डॉ0 आम्बेडकर का एक सपना पूरा हो गया, दलित वर्ग सत्ता में आ गया। बसपा ने बड़े आक्रामक अदांज़ में अपनी राजनीति की शुरूआत की। बसपा का राजनीतिक सफर 'तिलक, तराजू और तलवार, इनको मारो जूते चार' से होते हुए 'ब्राह्मण शंख बजाएगा, हाथी बढ़ता जाएगा' तक पहुँचा। उसका सफर 'बहुजन' से 'सर्वजन' तक का सफर रहा है। इनते वर्षों की बसपा की राजनीति के बाद उत्तर प्रदेश के दलितों में और खुद बसपा में बहुत बदलाव आया है।

बसपा ने शुरूआती दौर में जिस तरह से दलितों के बीच जाकर नुक्कड़ नाटकों, दलित नायकों की कथाओं इत्यादि के आधार पर दलितों में राजनैतिक चेतना जगाई। उसके बाद

मायावती मुख्यमन्त्री बनीं। इससे दलित वर्गों में आत्मसम्मान जगा है। तमाम आरोपों–प्रत्यारोपों के बावजूद मायावती चार बार सूबे की मुख्यमन्त्री बनीं। 2007 ई0 के उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनावों में जनता ने उन्हें स्पष्ट जनाधार दिया। शुरूआत से ही बसपा को तीखी आलोचनाओं का सामना करना पड़ा है। गैर दलित ही नहीं, दलित चिंतकों का भी एक वर्ग उन्हें आड़े हाथों लेता रहा है। पहले कहा गया कि बसपा, जाति की राजनीति कर रही है। उसे केवल दलित वर्गों के हितैषी के रूप में देखा गया। फिर बसपा को दलितों की उपजाति 'चमार' से जोड़ कर देखा गया। मायावती स्वंय इसी उपजाति से हैं। अब उसे सिर्फ सत्ता की दलित राजनीति करने वाली पार्टी कहा जा रहा है। उन्हें इससे पहले प्रधानमन्त्री पद के उम्मीदवार की हैसियत से भी देखा जा रहा था। और अब यह कहा जा रहा है कि मायावती ने पूरा का पूरा दलित आंदोलन ब्राह्मणवादियों के हाथ में दे दिया है। दलित चिंतक कंवल भारती यहाँ तक कह कहते हैं– "जैसे–जैसे कांशीराम और मायावती की राजनीतिक गतिविधियां बढ़ती गई, वैसे–वैसे यह स्पष्ट होता गया कि उनका राजनीतिक मकसद कांग्रेस को कमजोर करने का नहीं, वरन ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद के खिलाफ दलित आंदोलन के मूल संघर्ष को ख़त्म करना था।"[44]

इसके ठीक विपरीत दलित समाजशास्त्री डॉ0 विवेक कुमार का मानना है: "बसपा जब कभी सत्ता में आई, उसने भाजपा की विचारधारा को छोड़ अपने एजेंडे को निर्भीकता से लागू किया है।"[45] बुद्धिजीवियों के दो वर्ग हैं, पहला जहाँ बसपा की नीतियों की जबरदस्त आलोचना करता है, दूसरा खूब तारीफ करता है। इन वर्गों में दलित और गैर–दलित दोंनो है– इन दोनों वर्गों के साथ समस्या यह है कि यह मध्य वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। इनका बसेरा शहर में है। ये वर्ग शिक्षण संस्थानों, अखबारों इत्यादि में कार्यरत हैं। राजनीति के आकलन के लिए ये वर्ग ज़्यादातर आंकड़ों पर निर्भर रहते हैं। ग्रामीण पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखने वाले मतदाता (जिनका प्रतिशत बहुत अधिक है और जिनमें दलित ज़्यादा हैं) की मानसिक बुनावट को ये वर्ग ठीक से नहीं समझते। एक और ज़रूरी बात इन दानों वर्गों ने दलित आदोंलन और दलित राजनीति में ऐसा धालमेल पैदा कर दिया है कि आज दलित राजनीति को दलित आंदोलन का पर्याय मान लिया गया है। गोया दोनों एक ही हों। सचाई यह है कि दोनों अलग–अलग है। और दलित आंदोलन से ही दलित राजनीति उपजी है। दलित आंदोलन के कार्यकर्ता गाँवों –कस्बों में आंदोलनरत हैं। जिनसे ये वर्ग ज़्यादा परिचित नहीं है। दलित राजनीति ने भी एक आंदोलन छेड़ रखा है मगर दलित आंदोलनों का अपना अस्तित्व भी है। दलित आंदोलन और दलित राजनीति दोनों को अलगा कर देखे जाने की ज़रूरत है। दलित जनता के लिए मायावती केवल नेता ही नहीं, अपनी नेता हैं। वह उनमें आत्मसम्मान जगाती हैं।

बसपा की अभी तक की राजनीति कुछ सवाल पैदा करती है। पहला क्या वास्तव में बसपा ब्राह्मणवादी ताकतों के साथ हो गई हैं? जिस तरह 2007 ई0 में मायावती ने गुजरात दंगे के दोषी नरेन्द्र मोदी का गुजरात जाकर चुनाव प्रचार किया और उत्तर प्रदेश में सरकार बनाने के लिए किए गए गठबन्धन, तो फौरी तौर पर यही साबित करते हैं। दूसरा सवाल यह कि क्या बसपा जाति की राजनीति कर जातिवाद के बढ़ावा दे रही हैं? जबकि डॉ0 आम्बेडकर का सपना एक जातिविहीन समाज का था। तीसरा सवाल है कि बसपा, आस्मिता की राजनीति के नाम पर दलितों की आर्थिक समस्याओं को नज़रअंदाज़ कर रही है? यह सारे सवाल कहीं न कहीं एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

हम पहले ही बता चुके है कि भारतीय राजनीति का चरित्र शुरूआत से ही जातिवादी रहा है– "किसी भी दल का नेता अपनी जाति का नेता भी होता है।"–[46] आज जिसे हम जाति की राजनीति कहकर उसकी आलोचना कर रहे हैं, उसे रजनी कोठारी जैसे समाजशास्त्री दूसरी नज़र से देखते हैं। जाति आधास्ति राजनीति पर उनका कहना है– "जिस समाज में जातिगत संरचनाओं के माध्यम से संगठन और गोलबंदी की सुविधा हो और जिस समाज में अधिकांश जनगण जातियों के रूप में ही संगठित हों, वहाँ राजनीति जाति आधारित गोलबंदी की कोशिश करेगी ही। इस विश्लेषण से साफ हो जाना चाहिए कि 'राजनीति में जातिवाद' की कथित परिघटना असल में 'जातियों का राजनीतिकरण' ही है।"[47]

'जातियों के राजनीतिकरण' को दलित समाजशास्त्री डॉ0 विवेक कुमार 'जाति चेतना का राजनीतिकरण'–[48] कहते हैं। बात एक ही है। इस प्रक्रिया में होता यह है कि कोई जातीय दल, जाति के आधार पर संगठित होता है। अपनी स्थिति मज़बूत करते हुए ये दल धीरे–धीरे राजनीतिक दल में बदलते हैं और समान लक्ष्यों वाले किसी दल–संगठन से गठजोड़ करके सत्ता का दावा पेश करते हैं। प्रवेश कुमार के अनुसार "आज विभिन्न जातियां अपने को एक राजनैतिक संगठन के माध्यम से संगठित करती हैं। वे अपनी मांगों के लिए सरकार और उनके राजनैतिक संगठनों पर दबाव बनाती हैं। आज देश में हजारों की संख्या में जातीय संगठन विधमान हैं।"[49]

क्या बामसेफ का बसपा तक का सफर वाया डी0 एस0 फोर इसी प्रक्रिया को नहीं दर्शाता? 'जातियों के राजनीतिकरण' या 'जाति चेतना का राजनीतिकरण' की प्रक्रिया में गठजोड़ की राजनीति दिक्कतज़दा भी होती है। अभय कुमार दुबे के अनुसार– "गठजोड़ के जरिये दलितों के राजनीतिक प्रतिनिधियों को यदा–कदा थोड़े समय के लिए सत्ता भी

मिल जाती है लेकिन वे उसका इस्तेमाल सिर्फ अस्मिता निर्माण के औजार के रूप में करते हैं और उस आर्थिक बुनियादी की रचना नहीं कर पाते जिसके बिना आस्मिता व्यापक समाज की मान्यता से वंचित रहती है।"[50]

यह एक अच्छा तर्क है। जैसा कि हम जानते हैं सन 2007 से पहले तक बसपा के साथ यह मज़बूरी रही। वह चाह कर भी ज़्यादा कुछ नहीं कर पाई। लेकिन एक सवाल बार–बार दिमाग़ में बेचैनी पैदा करता है कि बसपा को गठजोड़ के लिए ब्राह्मणवादी शक्तियां ही क्यों मिलती हैं? महाराष्ट्र, बिहार, उत्तर प्रदेश इत्यादि राज्यों की दलित राजनीति इसका उदाहरण है। आपने अभी तक अपने संभावित मित्रों की तलाश क्यों नही की? आपको लम्बे समय तक राजनीति करनी है और अगर आप 'दिल्ली' तक का सपना पाले हुए हैं, तो आपको संभावित मित्रों की तलाश करनी ही पड़ेगी।

दलितों के लिए आर्थिक उपाय बहुत ज़रूरी है, इसमें दो राय नहीं। मगर केवल आर्थिक कदम न उठा पाने के कारण आज जिसे अस्मितामूलक राजनीति कहकर नकारा जा रहा है, उसके अन्य पहलू भी हैं। हम जानते हें कि मुक्ति का कोई भी आंदोलन या राजनीति अपने शुरूआती दौर में अस्मितामूलक ही होती है। किसी भी आंदोलन–राजनीति में प्रतीकों का अपना महत्व होता है। कांग्रेस आज तक नारों और प्रतीकों की ही राजनीति कर रही है। कुछ लोग बसपा की इस बात पर कठोर आलोचना करते हैं कि वह सारा पैसा आम्बेडकर पार्क और मूर्तियां बनाने पर खर्च कर रही है। ऐसा कहने वाले इन प्रतीकों के सांस्कृतिक महत्व को समझते हुए ही बसपा की आलोचना करते हैं। दलित राजनीति के शोधार्थी प्रवेश कुमार प्रतीकों की महत्ता पर कहते हैं– "ये प्रतीक दलितों के बीच अपने गौरवपूर्ण इतिहास के गवाह हैं जिनसे दलित समाज प्रेरणा लेता है। ये प्रतीक असमानता और अमानवीयता पर आधारित समाज व्यवस्था के खिलाफ एक ऐतिहासिक संघर्ष के प्रतिबिम्ब हैं, साथ ही साथ समानता के लिए किए गए संघर्ष के उच्च आदर्श भी हैं।"–[51]

प्रतीकों की राजनीति भारत में किस संगठन ने नहीं की? भारतीय राजनीति में प्रतीकों का इतना महत्व है कि रातों–रात अनुमानित आंकड़े बदल जाते हैं। फिर ये प्रतीक दलितों में सांस्कृतिक मुखालफत का जज़्बा पैदा करते हैं। दलित समाज में इनके महत्व को रेखांकित करते हुए मायावती के जीवनीकार अजय बोस यहाँ तक कहते हैं– "ऐसी जनता के लिए, जिसे शताब्दियों से कोई धार्मिक प्रतीक सुलभ नहीं था, ऐसा 'टोटमवाद' बहुत बल देने वाला होता है और शायद आर्थिक समृद्धि से भी ज़्यादा प्रांसगिक होता है।"[52]

किन्तु इस प्रतीकीकरण से काफी समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं। डॉ0 आम्बेडकर के प्रतीकीकरण की प्रक्रिया में दलित राजनीति और गैरदलित राजनीति दोनों ने एक किस्म की चालाकी बरती है। ब्राह्मणवादी शंक्तियां जहाँ 'आम्बेडकर' की छवि केवल 'संविधान निर्माता' और 'कम्युनिस्ट विरोधी' के रूप में पेश करती हैं, वहीं 'दलित राजनीति' ने उनकी ऐसी तस्वीर गढ़ी जैसे वे केवल 'दलितों के लिए 'सत्ता' चाहते थे। वे केवल 'संसदीय लोकतन्त्र' की राजनीति में विश्वास करते थे और 'जन आंदोलनों' में उनका कोई भरोसा नहीं था। इस तरह 'आम्बेडकर' को कांट–छांट कर अपने इस्तेमाल में लाया गया। क्रांतिकारी –जझारू 'आम्बेडकर' कहीं नज़र नहीं आता। इस् प्रतीकीकरण के ज़रिए सत्ता जनता का ध्यान आर्थिक मुद्दों से हटाती है, यह भी देखा गया है। इस मामले में 'डॉ0 आनन्द तेलतुम्बड़े 'प्रतीकीकरण' पर सवालिया निशान लगाते हैं– "दलित राजनेता जो जन साधारण का कभी भी उनकी भौतिक समस्याओं के पहलुओं की तरफ ध्यान नहीं दिलाते और हमेशा उन्हें भावनात्मक मुद्दों के जाल में फंसाए रखते हैं, ऐसे ही लोगों ने डॉ0 अम्बेडकर के प्रतीकीकरण को सबसे ज़्यादा बढ़ाया है।"[53]

यह बयान एक हद तक ठीक हो सकता है, मगर ऐसा भी नहीं कि दलित राजनीति ने आर्थिक पहलुओं की तरफ ध्यान ही नहीं दिया। 2007 में बसपा को स्पष्ट जनाधार मिला। उससे पहले 'मायावती' तीन बार गठबंधन के ज़रिए मुख्यमन्त्री बनीं। गठबन्धन सरकार की कुछ मजबूरियां होती हैं। इस दौर में बसपा ने सांस्कृतिक स्तर पर ज़्यादा काम किया। उसने तमाम विरोधों के बावजूद 'आम्बेडकर पार्क' बनवाने शुरू किए और ज़िलों के नाम बदलकर, उन्हें दलित नायकों –नायिकाओं का नाम दिया गया। इसी क्रम में नए ज़िलों का गठन भी किया गया। दरअसल बसपा दो एजेण्डों पर काम कर रही है– सांस्कृतिक और आर्थिक। 2007 ई0 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में बसपा की सरकार बनी तो उसने दोनों एजेण्डों पर काम करना शुरू किया। जहाँ कुछ लोग बसपा की यह कहकर आलोचना कर रहे हैं कि उसने सारा पैसा पार्क बनवाने व मूर्तियां लगवाने में खर्च कर दिया वहीं बसपा सरकार दावा करती है कि– " जबकि यह बात पूर्णरूप से जनता को गुमराह करने वाली है। इन लोगों द्वारा जानबूझ कर जनता को गुमराह करने के लिए गलत आँकड़े देकर इस प्रकार का भ्रम फैलाया जा रहा है, जबकि इन मामलों में सचाई यह है कि सरकार द्वारा इन स्मारकों, संग्रहालयों, मूर्तियों व पार्कों आदि की स्थापना पर पिछले तीन वर्षों के दौरान किया गया व्यय कुल बजट धन राशि के लगभग एक प्रतिशत से भी कम है और बाकी 99 प्रतिशत बजट का तीन साल का पूरा पैसा प्रदेश में विभिन्न विभागों के ज़रिए जनहित के कार्यों व प्रदेश के विकास पर खर्च किया गया है।"–[54]

देखने में यह भी आया है कि केन्द्र शासित सरकार ने बसपा के शासनकाल में प्रदेश के विकास के लिए सहयोग नहीं किया। केन्द्र सरकार द्वारा उपेक्षा की नीति बरती गई। प्रदेश

के विकास के लिए बसपा द्वारा मांगे गए 'आर्थिक पैकेज' को नहीं दिया गया। उलटे विभिन्न पार्टियों द्वारा बसपा सरकार को विकास के नाम पर बदनाम भी किया गया। प्रदेश सरकार का दावा है कि' "माननीया मुख्यमंत्री सुश्री मायावाती जी ने प्रधानमंत्री डॉ0 मनमोहन सिंह से मिलकर प्रदेश का पिछड़ापन दूर करने व तेज़ी से विकास कार्यों को गति देने के लिए 80,000 (अस्सी हजार) करोड़ रूपये के 'विशेष आर्थिक सहायता पैकेज' की माँग की लेकिन केन्द्र सरकार ने इस विशेष आर्थिक पैकेज के लिए प्रदेश सरकार की अभी तक कोई मदद नहीं की। ... इस मामले में केन्द्र सरकार का रवैया प्रदेश के प्रति उचित और न्यायपूर्ण नहीं रहा, जिसके कारण प्रदेश के विकास के कार्य काफी प्रभावित हुए हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ दुख के साथ कहना पड़ता है कि प्रदेश के हित में राज्य सरकार का साथ देकर उत्तर प्रदेश को उसका जायज हक दिलाने के बजाय अन्य पार्टियाँ उल्टा ही प्रचार कर रहीं है।"—[55]

केन्द्र सरकार द्वारा बसपा शासित राज्य की उपेक्षा को समझा जा सकता है। जहाँ एक ओर केन्द्र सरकार आर्थिक मदद नहीं देती, वहीं दूसरी ओर प्रदेश शासित राजनीति को विकास के नाम पर बदनाम भी करती है। यह इस लोकतंत्र की विडम्बना है जिसमें 'जाति' सबसे प्रमुख तत्व है। अपनी 5 साल की सरकार में बसपा ने सांस्कृतिक व आर्थिक स्तर पर काम किया है।—[56] अगर इस काम में कोताही बरती गई या भ्रष्टाचार हुआ है तो निश्चित ही बसपा की आलोचना की जानी चाहिए। मगर 5 साल के शासन में यह उम्मीद करना कि गरीबी पूरी तरह खत्म हो जाएगी, बेमानी है। हाँ अगर यह लगता है कि बसपा ने सांस्कृतिक लड़ाई के नाम पर आर्थिक लड़ाई को नज़र अंदाज़ किया है तो इसकी आलोचना बेशक की जानी चाहिए। जनता बेवकूफ नहीं है जो इस तथ्य (अगर ऐसा हुआ है) को समझ ही न पाए। हाँ एक हद तक सत्ता, जनता का ध्यान भटका सकती है, मगर जनता समझती है और आंदोलन भी करती है। निश्चित ही बसपा के सांस्कृतिक आंदोलन ने दलित जनता को एक नया तेवर दिया है। हाँ बसपा को आर्थिक स्तर पर भी तेजी से काम करना चाहिए। राजनीतिक मजबूरियों एवं केन्द्र सरकार की उपेक्षा को समझा जा सकता है मगर जनता अन्ततः विकास और रोज़गार चाहती है। भविष्य में यदि बसपा की सरकार बनती है तो उसे इन पर विचार करना चाहिए। 'सर्वजन हिताय व सर्वजन सुखाय' का सच जनता तक पहुँचना चाहिए।

ज़रूरी बात यह है कि वर्तमान समय में दलित राजनीति की जो भी कमियां या सीमाएं नज़र आ रही हैं, वह सिर्फ दलित राजनीति की कमियां या सीमाएं नहीं हैं, दरअसल ये कमियां या सीमाएं वर्तमान लोकतान्त्रिक पद्धति में प्रचलित मुख्यधारा की राजनीति की हैं। इस पद्धति में इससे बेहतर राजनीति नहीं हो सकती, मगर इसका यह मतलब कतई नहीं

कि इससे बेहतर राजनीति होगी ही नहीं। ज़रूरत है लोकतान्त्रिक पद्धति को ठीक करने की। यह काम भी सत्ता में रहकर ही हो सकता है। सत्ता ही सत्ता का मुकाबला कर सकती है। दलितों के लिए लोकतन्त्र हितकर है, मगर वह संसदीय ढाँचे का लोकतन्त्र नहीं है। वर्तमान लोकतन्त्र असमानता पर आधारित है और अभी भी वंशानुगत राजनीति का शिकार है। पूरी दुनिया में विफल रहे संसदीय लोकतन्त्र पर 1943 ई0 में 'इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर' के तत्वाधान में आयोजित कार्यक्रम में डॉ0 आम्बेडकर ने कहा थाः "संसदीय लोकतन्त्र लोकप्रिय सरकार का ताना–बाना होते हुए भी वास्तव में एक वंशानुगत शासक वर्ग द्वारा वंशानुगत प्रजा वर्ग की सरकार है। यह राजनीतिक जीवन का वह दूषित संगठन है, जिसने संसदीय लोकतन्त्र को बिल्कुल असफल बनाया है। यही कारण है कि संसदीय लोकतन्त्र ने आम आदमी को जिस स्वतन्त्रता सम्पत्ति और खुशहाली के लक्ष्य का विश्वास दिलाया था, उसे पूरा नहीं किया।"[57]

निश्चित ही हाशिए की राजनीति के उभार ने संसदीय लोकतन्त्र की इस दूषित प्रवृत्ति पर चोट की है। यह भी सत्य है कि इसे सत्ता में रहकर ही बदला जा सकता है। बसपा ने इस बदलाव की उम्मीदों को ज़िन्दा किया है। इस उम्मीद को उसे जनता तक लेकर जाना चाहिए। कांशीराम ने कहा थाः "हम राजनीति का प्रयोग सामाजिक परिवर्तन के लिए करना चाहते हैं।"[58] ऐसा होना भी चाहिए तभी यह लोकतंत्र टीक होगा। राजनीति दो तरह की होती हैः सत्ता की राजनीति और जनता की राजनीति। बसपा को इस सामाजिक परिवर्तन के लिए जनता की राजनीति करनी चाहिए। आज जिसे अस्मितामूलक राजनीति कहकर नकारा जा रहा है, उसके सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पहलू हैं और उन दोनों पर बात होनी चाहिए। दलित राजनीति ने दलितों के भीतर आत्मसम्मान जगाया है। और उनके भीतर सांस्कृतिक मुखालफत का जज़्बा पैदा किया है। इससे आने वाली राजनीति ठीक होगी। जैसा कि हम जानते हैं मुक्ति का कोई भी आंदोलन या राजनीति अपने शुरूआती दौर में अस्मितामूलक ही होता है। यह प्रथम दौर की राजनीति है इससे ज़्यादा कुछ नहीं बनने वाले मगर इससे आने वाली राजनीति का रास्ता बनता है। डॉ0 आनन्द तेलतुम्बडे भी यही उम्मीद व्यक्त करते हैंः "लोकमानस में प्रचारित 'अम्बेडकर' को 'क्रांतिकारी अम्बेडकर' में बदलने की आवश्यकता है जो लोगों को यह प्रेरणा दे कि वे लुटेरों से छोटे–मोटे स्वार्थ न मांगे और पूरी दुनिया पर अपना दावा प्रस्तुत करें।"[59]

2.4 दलित साहित्य और राजनीति

साहित्य और राजनीति में गहरा सम्बन्ध होता है। दोनों एक दूसरे को प्रेरित–प्रभावित करतें हैं। यह बात वे लोग भी ठीक तरह से समझते हैं जो 'कला–कला के लिए' का राग अलापते हैं। वास्तव में यह नारा अपने आप में एक सोची–समझी साहित्यिक राजनीति है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि साहित्य स्वयं एक बहुत बड़ी राजनीति है। सत्ता ने साहित्य के ज़रिए ही अपने शोषण की नींव मज़बूत की है। इसी प्रक्रिया के तहत वेद स्मृति, पुराण, महाभारत, रामायण, गीता इत्यादि ग्रंथों की रचना की गई। इस तरह क्रांति–प्रतिक्रांति की धाराएं प्रत्येक समय में एक साथ सक्रिय रहीं हैं। इतिहास इसका गवाह है।

इसी क्रम में दलित साहित्य और दलित राजनीति दोनों ने एक दूसरे को प्रेरित–प्रभावित किया है। जब दलित राजनीति नहीं थी तो दलित आंदोलन यह काम कर रहा था। अश्वघोष से लेकर कबीर–रैदास और फूले तक का दलित आंदोलन और उस दौरान रचित साहित्य एक–दूसरे से प्रेरित–प्रभावित रहे हैं। कबीर–रैदास इत्यादि शूद्र व अतिशूद्र संतों का साहित्य, सीधे–सीधे साहित्य में वर्ग–संघर्ष ही था। मुक्तिबोध यही इंगित करने का प्रयास कर रहे थे।[60] दरअसल इस प्रतिरोध के साहित्य और आंदोलन की कई कड़ियां ग़ायब हैं। इसमें सत्ता द्वारा चलाई गई प्रतिक्रांति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इस बारे में मैनेजर पाण्डे बड़ी साफ़गोई से अपने एक साक्षात्कार में कहते हैं– "मुझे बार–बार लगता है कि केवल दलितों की आत्मभिव्यक्ति को अस्वीकार किया गया, बल्कि उन्हें ध्वस्त भी किया गया।"[61]

भविष्य में अगर ये कड़ियां मिलती हैं तो इससे दलित आंदोलन और दलित साहित्य के नए क्षितिज खुलने की संभावना है। हमारे सामने जो इतिहास उपलब्ध है वह अपर्याप्त तथ्यों के आधार पर लिखा गया है। 'इतिहासकार जो चाहते हैं वही हमें दिखाते हैं। जैसा कि हम जानते हैं दुनिया का दबा–कुचला हिस्सा पिछले 20–25 सालों से नए तेवर के साथ उभर रहा है, सिर्फ़ उभर ही नहीं रहा, आंदोलन भी हो रहा है। इसी क्रम में दलित साहित्य भी खड़ा हुआ है। दलित लेखन में वे ही लोग सक्रिय हैं जो दलित आंदोलन में भी सक्रिय रहे हैं। आधुनिक काल में हिन्दी दलित साहित्य की शुरूआत 1914 ई0 में सरस्वती में प्रकाशित हीरा डोम की कविता अछूत की शिकायत से मानी जाती है। किन्तु यहाँ हम हिन्दी दलित साहित्य की पूर्वपीठिका में ने जाकर दलित साहित्य के उस दौर की बात करेंगें जब दलित साहित्य एक नए तेवर के साथ हिन्दी पट्टी में उभरता है। यह नब्बे का दशक था जब उत्तर भारत की राजनीति में कांशीराम का उदय होता है। कांशीराम ने बामसेफ, डी0 एस0–4 के रास्ते बसपा का गठन किया। दलित राजनीति के लिए यह एक ऐतिहासिक समय था। यह समय बहुत महत्वपूर्ण है। इसी समय में बसपा का गठन होता

है और सामाजिक न्याय की माँग तेज़ हो उठती है। यह समय मंडल आयोग का भी समय है। इसी समय में साम्प्रदयिक–फासीवाद ताकतों का नंगा नाच होता है और अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिरा दी जाती है। यह समय नव उदारीकरण का भी समय है।

किसी खास समय में जब सामाजिक संरचना बदलती है तो साहित्य में भी बदलाव होता है। दलित साहित्य और दलित राजनीति दोनों के ही लेहाज से यह समय बहुत संभावनाशील और उतना ही चुनौतीपूर्ण रहा। दलित साहित्य और दलित राजनीति दोनों ने एक दूसरे को प्रेरित–प्रभावित करते हुए अपनी–अपनी राहें तलाश कीं। मराठी दलित साहित्य और वहाँ की दलित राजनीति से हिन्दी दलित साहित्य और दलित राजनीति ने बहुत कुछ सीखा। जहाँ हिन्दी दलित साहित्य ने मराठी दलित साहित्य से एक नया तेवर, नई तल्ख़ी सीखी, वहीं दलित राजनीति ने यह सीखा कि टूटना नहीं है, चाहे समझौता क्यों ना करना पड़े? इस तरह 'हिन्दी दलित साहित्य' ने मुख्यधारा के साहित्य की तमाम आलोचनाओं–निदांओं के बावजूद अपनी अलग और ख़ास पहचान बनाई, वहीं दलित राजनीति सत्ता तक पहुँची और एक निर्णायक पार्टी के रूप में उभरी। बसपा की सफलता पर मायावती के जीवनीकार अजय बोस कहते हैं– "यह महत्वपूर्ण है कि सत्ता के लिए कांशीराम और मायावती ने जो व्यवहारिक और लोकतान्त्रिक रास्ता अपनाया दलित पैंथर्स के द्वारा प्रस्तावित ज़्यादा रोमानी और क्रांतिकारी रास्ते पर उसकी जीत हुई। पैंथर्स के ऊपर बसपा सिर्फ इसलिए सफल नहीं हुई क्योंकि राज्य की दमनकारी सरकारी मशीनरी ने उन्हें खदेड़ भगाया, जबकि बसपा ने राजनीति का ज़्यादा सुरक्षित ढंग अपनाया था। इसका सम्बन्ध दलितों की अपनी इच्छा से भी था। वे खुद ऐसी रगड़ते हुए चलते रहने वाली लड़ाई के पक्ष में थे जो अपने दांव–पेंच और रणनीति में ज़्यादा लचीली हो, बजाय इसके कि एक आदर्शवादी आंदोलन का ऐसा विस्फोट हो, जिसका कोई परिणाम तो न हो, पर दमनकारियों की निर्ममता और बढ़ जाये।"[62]

यह बात उत्तर प्रदेश की दलित जनता पर काफी हद तक ठीक है। दलित जनता किसी निर्णायक लड़ाई के पक्ष में नहीं दिखाई देती। वह संसदीय लोकतन्त्र की राजनीति से ही पूरी आस लगाए बैठी है। यह दलित बुद्धिजीवियों और दलित राजनीति की कमी है कि उन्होंने स्वयं संसदीय लोकतन्त्र की राजनीति से ही आस लगा रखी है। जैसे और कोई रास्ता ही न हो। यह ठीक है कि वर्तमान समय में यही एक विकल्प है। किन्तु आपको भविष्य में बड़े बदलाव करने के लिए तैयार होना चाहिए। अच्छी बात है आज दलितों की बात सुनी जा रही है। देर–सबेर उनकी कुछ मांगे पूरी भी हो रही हैं। मगर वे सिर्फ इसी में खुश रहेंगे या पूरी दुनिया भी किसी दिन मांगेंग?

दलित साहित्य, आत्मकथा लेखन से शुरूआत करते हुए, सभी साहित्यिक विधाओं में अपनी दमदार दख़ल दे चुका है। दलित साहित्य अपनी मूल प्रवृत्ति में ब्राह्मणवाद का विरोधी रहा

है। अब उसने दूसरे शत्रु पूंजीवाद को भी निशाने पर लिया है। उसने 'समय की आदमखोर धुन'—[63] को पकड़ लिया है। दलित कवि जय प्रकाश लीलवान कहते हैं—

"अब आदमी

माल का पर्याय हो गया है

और माल

अब आदमी से ऊपर की चीज़

होने की

स्वीकृति पा गया है"[64]

हांलाकि दलित चिंतकों में अभी इस बात पर बहस ज़ारी है कि तथाकथित बाज़ार दलितों के लिए फायदेमन्द है या नुकसानदेह। मगर जिन लोगों ने बाज़ार के चरित्र को समझ लिया है वे इसकी तीखी आलोचना कर रहे हैं। आज निर्णायक स्थिति में पहुँचकर दलित साहित्य अपने संभावित मित्रों की तरफ कदम बढ़ा रहा है।

"जय प्रकाश लीलवान' अपनी कविता में संभावित मित्रों का आह्वान करते हुए कहते हैं,

"आओ कॉमरेड

कि हम आज

शत्रु के

उत्तेजित संवादों का

सधा हुआ प्रयुत्तर देने को

अपनी ऐतिहासिक

अटूट एकता के

संगठन में ढल जाएं।।"—[65]

दलित चिंतक कंवल भारती भी आम्बेडकर और मार्क्स को मिलाकर क्रांति की संभावनाएं तलाश रहे हैं।

इस तरह हिन्दी दलित साहित्य आज एक खास जगह पर पहुँच चुका है। दलित साहित्य हर प्रकार की असमानता को नकारकर समता–स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व पर आधारित समाज निर्माण के लिए कृत संकल्प है। वह ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद के गठजोड़ को भी समझ रहा है। साम्प्रदायिक–फासीवादी ताकतों का वह विरोध करता है क्योंकि ये ताकतें लोकतन्त्र के स्पेस को ख़त्म करती हैं जो कि दलितों के लिए ज़रूरी है। किन्तु दलित साहित्य में एक कट्टरधारा भी पनपी है जो आँख मूंद कर प्रेमचन्द जैसे साहित्यकारों की निन्दा कर रहे हैं। किसी भी आन्दोलन में एक धारा अनिवार्य रूप से कट्टर हो जाती है। यह कट्टरता उस आंदोलन को तानाशाही पर ले जाती है। ब्राह्मणवाद एक तानाशाही है, उसका जवाब किसी भी रूप में दूसरी तानाशाही नहीं हो सकती। किसी भी विचार या आंदोलन के लिए अपने को रूढ़ कर लेना दूसरों को एक सिरे से खारिज कर देना, फासीवाद है। यह काम ब्राह्मणवाद का है। यदि दलित साहित्य की कोई धारा यह काम करती है तो इसकी आलोचना की जानी चाहिए। दलितों के लिए लोकतन्त्र (संसदीय ढाचे का वर्तमान लोकतन्त्र नहीं) हितकर है यह बात साबित हो चुकी है। मगर यह धारा उस लोकतन्त्र के स्पेस को कम करती है। इसलिए इस बात की आलोचना की जानी चाहिए। अच्छी बात है कि दलित साहित्यकारों की तरफ से इस धारा की आलोचना शुरू हो गई।[66]

दलित साहित्य ने मार्क्सवाद को भी विचार करने के लिए मजबूर किया है। मार्क्सवादी खेमे के एक हिस्से में अब जाति, आरक्षण पर बात होने लगी है। दलित साहित्य आज हर प्रकार के वर्चस्व को नकार कर एक समतामूलक समाज के निर्माण के लिए तत्पर है। किन्तु ब्राह्मणवादी शक्तियाँ इतनी चालाक हैं कि उन्होंने शोषण के नए तरीके अख़्तियार किए हैं। आज शोषण की बारीकी बढ़ी है। अब पढ़े–लिखे दलित को सरकारी दामाद और बहनजी का आदमी कहकर उसका मज़ाक उड़ाया जाता है। छुआछूत मिटने (एक हद तक) को ही जातिवाद का ख़ात्मा कहकर प्रचारित किया जा रहा है। मन्दिर के लिए अछूत था आज वह खुद दलितों के घर चलकर आ रहा है। इन सब में बाज़ार भी अपनी भूमिका निभा रहा है। दलित साहित्य को इन नई चुनौतियों से निपटने के लिए खुद को तैयार करना होगा।

दलित साहित्य पर जातिवादी होने का आरोप भी लगाया जाता रहा है। यह ब्राह्मणवाद की सबसे बड़ी चाल है। हज़ारों सालों से जिन्हें जातिगत उत्पीड़न का शिकार बनाया जाता रहा, आज जब वे अपनी पहचान के साथ साहित्य–राजनीति में दख़ल दे रहे हैं और सिर्फ़ दख़ल ही नहीं दे रहे, आँख तरेर कर अपना हक़ माँग रहे हैं तो, इसे जातिवाद कहा जा रहा है। दलितों में स्वयं जातिवाद की समस्या रही है हांलाकि यह ब्राह्मणवाद की देन है, पर दलित–साहित्य में इस पर बात शुरू हो गई है। अजय नांवरिया का उपन्यास 'उघर के लोग' और ओम प्रकाश बाल्मीकि की कहानी शव यात्रा इस सुगबुगाहट के सबूत हैं। इघर बीच दलित साहित्य और दलित राजनीति के बीच एक दूरी सी दिखाई दे रही है। दलित

राजनीति ने निश्चित ही एक लम्बा रास्ता तय कर लिया है और तमाम समझौतों के बाद वह सत्ता की दहलीज तक पहुँची है। इसके लिए उसने ब्राह्मणवादी–फासीवादी संगठन (भाजपा) से भी हाथ मिलाया। आज दलित राजनीति को सत्ता की दलित राजनीति कहकर प्रचारित किया जा रहा है। इसके बरक्स दलित साहित्य में इस पर कोई चर्चा दिखाई नहीं देती। दलित चिंतक कंवल भारती दलित साहित्य पर आरोप लगाते हैं– "खेद है कि दलित राजनीति में आए इस खतरनाक उभार का कोई उल्लेखनीय प्रतिबिम्ब हमें समकालीन दलित साहित्य में नहीं मिलता। दलित लेखक सम्भवतः जातीय स्वाभिमान के रूप में मायावती को देख रहे हैं और उन परिवर्तनों की उपेक्षा कर रहे हैं, जो दलित–मुक्ति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।"[67]

कंवल भारती की बात एक हद तक ठीक भी है। समकालीन दलित साहित्य में हमें इस राजनीतिक ठहराव का प्रतिबिम्ब नहीं मिलता। ओमप्रकाश बाल्मिकी की दो कहानियां मुम्बई काण्ड और कूड़ा घर तथा श्यौराज सिंह बेचैन की कहानी भरोसे की बहन–[68] 'माता प्रसाद' की एकांकी मुर्गी पली चमरौटी में[69] दलित राजनीति के इस चरित्र पर थोड़ा प्रकाश डालती है। इसमें भी भरोसे की बहन और मुर्गी पली चमरौटी, पर कांग्रेसी राजनीति का प्रभाव साफ़ दिखाई देता है। दलित साहित्य और दलित राजनीति की इस दूरी पर उमाशंकर चौघरी अपनी बात रखते हैं– "लेकिन हिन्दी दलित विमर्श और दलित राजनीति में एक बड़ी फांक बनी रही। दलित विमर्शकार दलित राजनीति के उत्थान से मानसिक स्तर पर नैतिक सम्बल तो अवश्य लेते रहे लेकिन उन्होंने सामने उनसे एक उचित दूरी बना कर रखी। दलित राजनीति को सत्ता चाहिए थी इसलिए उसने ढेर सारे समझौते किए। इन समझौतों से दलित विमर्शकार ने अपने को बिल्कुल अलगा कर रखा और उससे लगभग असहमति ही दिखाई। दलित राजनीति का अपना स्वरूप उसे ढेरों उलटे–सीधे समझौते करने की छूट देता है लेकिन विमर्शकारों के पास इसकी छूट नहीं है। ऐसा नहीं है कि विमर्शकार राजनीति की मजबूरियों को नहीं समझते हैं और ऐसा भी नहीं है वे इस राजनीतिक सशक्तीकरण को दलितों के हित में बहुत बड़ी सफलता नही मानते हैं लेकिन मौखिक रूप से इन राजनैतिक समझौतों का विरोध उनकी अपनी योजना का हिस्सा है।"[70]

हमें ईमानदारी से यह स्वीकार करना होगा कि दलित साहित्य में और स्वयं दलितों में एक मध्य वर्ग उपजा है। इस मध्य वर्ग की आर्थिक समस्या अब दूर हो चुकी है और अब यह सम्मान चाहता है। क्या कारण है कि दलित साहित्य में भूख अभी तक एक ज्वलन्त मुद्दा बन कर नहीं उभरी? इस बारे में कंवल भारती ने अच्छा सवाल उठाया है –"यह दलित चिन्तन की विडम्बना है कि वह जाति की पीड़ा को कविता में देखना चाहता है, भूख की

पीड़ा को नहीं। भूख पर लिखने वाले कवि को वह जनवादी और कम्युनिस्ट कहकर नकार देता है।"[71]

क्या हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि यह मध्य वर्ग गाँव के गरीब दलितों से दूर हुआ है। कुछ गलतियां तो हुंई हैं और उन्हें स्वीकार करने में कोई हर्ज़ नहीं होना चाहिए। कंवल भारती और उमाशंकर चौधरी, बसपा के जिस उभार का दलित लेखकों' में जातीय स्वाभिमान और मानसिक सम्बल के रूप में देख रहे हैं, दलित जनता में भी आत्मसम्मान का भाव जगा रहा है। हुआ यह है कि दलित साहित्यवरी उत्तर प्रदेश की दलित जनता से दूरी बढ़ी है। दलित जनता तक दलित साहित्य की पहुँच अभी तक संभव नहीं हो पाई है। इसके विपरीत दलित राजनीति प्रतीर्कीकरण के रास्ते ही सही, उन तक पहुँची है। अजय बोस के अनुसार– "जब गाँवों के दलित जन–साधारण पर जटिल अम्बेडकरी मुहावरे का उससे अपरिचित होने के कारण तुरन्त असर नहीं हुआ तो मायावती ने स्मारक और पार्क बनाए, उन्होंने सार्वजनिक सड़कों, संस्थाओं और जिलों का नाम परिवर्तन किया। उन्होंने इतिहास में मौजूद नेताओं को देवकुल से निकाल कर इन्हें दलित अस्मिता के प्रत्यक्ष प्रतीकों के रूप में पेश कर दिया। अनपढ़ ग्रामीण दलित की पहुँच अंम्बेडकर के लेखन तक भले ही न हो, पर पिछले दो दशकों में उत्तर प्रदेश के गाँवों और शहरों में सूट–टाई और चश्मे में सुसज्जित प्रतिमाओं में उनका व्यक्तित्व उसके लिए प्रत्यक्ष दर्शन का विषय है।"[72]

अब अगर किसी को यह लगता है कि दलित राजनीति, सिर्फ प्रतीकों की राजनीति कर रही है और जनता का ध्यान वह आर्थिक मुद्दों से हटाकर सिर्फ भावनात्मक मुद्दों में उलझाए रहती है तो दलित साहित्य की यह ज़िम्मेदारी बनती है कि वह दलित राजनीति की इस प्रवृत्ति की नोटिस ले। वह सम्मान के साथ–साथ भूख को भी मुद्दा बनाए (यह प्रक्रिया शुरू हो चुकी है– मलखान सिंह इत्यादि कवि इसके उदाहरण हैं)

बुद्धिजीवी, बसपा की राजनीति को चाहे जिस तरह ले, मगर दलितों का एक बड़ा हिस्सा मायावती को पसन्द करता है और उनके मुख्यमन्त्री बनने पर वह आत्म सम्मान महसूस करता है। दलित की एक बेटी जिसके पास न तो अर्थशक्ति थी और न ही कोई राजनीतिक विरासत, का सत्ता तक पहुँचना ही दलितों में आत्म–सम्मान जगाता है। कोई दलित जनता के इस आत्म सम्मान के भाव को चाहे ख़ामख्याली कहे या उनकी नासमझी, मगर यह बहुत बड़ी बात है कि उनके बीच से उनकी बेटी बड़े–बड़े राजनीतिज्ञों के बीच से, चुनावी विशेषज्ञों के तमाम आकलनों को धता बताते हुए राज्य की मुख्यमन्त्री बनी।

प्रेमचन्द ने साहित्य को राजनीति के आगे चलने वाली सचाई की मशाल कहा था। तो दलित साहित्य को वह मशाल बनना होगा। यदि दलित राजनीति में कमियां हैं तो यह

दलित साहित्य का कर्तव्य है कि उन कमियों की नोटिस ले। कंवल भारती का कहना है– "यदि राजनीति भ्रष्ट होती है तो साहित्य भी उसका शिकार होता ही है।"[73]

किंतु हमारा मानना है कि साहित्य इस मामले में राजनीति से एक कदम आगे होता है वह राजनीति को ठीक करने का काम भी करता है। दलित राजनीति को यह साबित करना होगा कि वह सत्य की राजनीति कर रही है या सत्ता की, उसी तर्ज़ पर दलित साहित्य भी तय करे कि वह सत्य का साहित्य है या सत्ता का। प्रत्येक समय में दो तरह की राजनीति और दो तरह के साहित्य क्रियाशील रहते हैं। एक राजनीति, सत्ता को स्थापित करने का काम करती है और दूसरी राजनीति स्थापित सत्ता को ख़ारिज करके समाज में बदलााव लाने की पक्षघर होती है। इसी तरह एक साहित्य, स्थापित सत्ता को समर्थन देता है और दूसरा साहित्य उस सत्ता व साहित्य का विरोध कर बदलाव लाने का पक्षघर होता है। इन दोनों ही अर्थों में साहित्य और राजनीति में बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है। अब दलित साहित्य और दलित राजनीति कहाँ खड़े होंगे उन्हें यह तय करना होगा।

हम जानते हैं कि वर्तमान समय में दलित राजनीति की जो भी कमियां या सीमाएं बताई जा रही हैं, वे सिर्फ़ दलित राजनीति की कमियां या सीमाएं नहीं हैं, दरअसल यह लोकतान्त्रिक पद्धति में प्रचलित मुख्यधारा की राजनीति की कमियां या सीमाएं है। इस पद्धति में इससें बेहतर राजनीति नहीं हो सकती। मगर इसका यह मतलब कतई नहीं कि इससे बेहतर राजनीति होगी ही नहीं। यदि आप सामाजिक परिवर्तन के नाम पर राजनीति कर रहे है तो, आपको इन सीमाओं से ऊपर उठना होगा। अगर ये भविष्य में ऐसा नहीं होता है तो इससे यह साबित हो सकता है कि केवल सत्ता बदली है, सत्ता का चरित्र नहीं बदला सत्ता का चरित्र बदलना ज़रूरी है तभी हम बड़े बदलाव की उम्मीद कर सकते हैं।

एंगेल्स ने कहा थाः "जो शासक वर्ग के लिए कल्याणकारी है, उसे पूरे समाज के लिए कल्याणकारी होना चाहिए।"[74]

इसलिए दलित राजनीति को बड़े बदलाव की तरफ बढ़ना चाहिए नहीं तो दलित राजनीति केवल सत्ता की दलित राजनीति बनकर रह जाएगी और भविष्य में उससे किसी बड़े बदलाव की उम्मीद रखना बेमानी होगा। दलित साहित्य को चाहिए कि वह दलित राजनीति की कमियों को रेखांकित करे। दूर–दराज़ के क्षेत्रों में चल रहे दलित आंदोलनों से अपना रिश्ता कायम करे इससे दलित राजनीति पर दबाव बनेगा और वह अपनी कमियों की तरफ ध्यान देगी। अब समय आ गया है कि अस्मिता की लड़ाई को अस्तित्व की लड़ाई में बदल दिया जाए। बसपा के पास अभी काफी समय है। यह तो आने वाला वक्त ही बताएगा कि दलित राजनीति किघर जाएगी? इतना तय है कि किसी भी बड़े बदलाव के लिए सत्ता ज़रूरी है।

संदर्भ ग्रंथ टिप्पणियां

1. सम्पादक– श्री कैलाश चन्द्र सेठ, मोहनदास नैमिशरायः बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड–7, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1998 पृष्ठ संख्या– 157
2. कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स– कम्युनिस्ट पार्टी का धोषणापत्र, राहुल फाउण्डेशन, 69–बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज लखनऊ द्वितीय संशोधित संस्करण जुलाई–2007, पृष्ठ संख्या–32
3. तुलसीराम, आलेख–दलित–दलित आंदोलन की अवधारणा समयांतर, सम्पादक– पंकज बिष्ट 79–ए दिलशाद गार्डन, दिल्ली, फरवरी 2008, पृष्ठ संख्या–76
4. रामशरण शर्मा– शुद्रों का प्राचीन इतिहास राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण–2009, पृष्ठ संख्या–73
5. प्रो0 उमाशंकर शर्मा, 'ऋषि' – हिन्दी सर्वदर्शन संग्रह, चौखम्बाा विधा भवन, वाराणसी–1 2006 संस्करण, पृष्ठ संख्या–21
6. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय– भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण– 1997, पृष्ठ संख्या 208–209, अनुवादक– कन्हैया, सम्पादक– रामशरण शर्मा 'मुंशी'
7. के0 दोमदरन–भारतीय चिंतन परंपरा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा0) लि0, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली अपैल 2009 चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ संख्या– 111, अनुवादक–जी0 श्रीधरन, सम्पादक–रामशरण शर्मा 'मुशी'
8. वही, पृष्ठ संख्या–127
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली संस्करण–2008, पृष्ठ संख्या–34
10. के0 दामोदरन–भारतीय चिंतन परंपरा, पृष्ठ संख्या–327
11. गजानन माधव मुक्तिबोध– मध्य युगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू, सं0– गोपेश्वर सिंह –भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण–2009, पृष्ठ संख्या– 110
12. वही, पृष्ठ संख्या–111
13. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या–34
14. वही, पृष्ठ संख्या–77
15. सं0– डॉ0 श्यामसुंदर दास– कबीर ग्रंथवली, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2008, पृष्ठ संख्या–24
16. सं0–डॉ0 शुकदेव सिंह –रैदास बानी, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण–2006, पृष्ठ संख्या–44
17. सं0– एल0 जी0 मेश्राम, विमलकीर्ति–, महात्मा ज्योतिबा फूले रचनावली (भाग–1) राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण–2009, पृष्ठ संख्या–289

18. वही, पृष्ठ संख्याः 136–137
19. सं0– कैलाश चन्द्र सेठ–बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खंड–10 डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण–2011, पृष्ठ संख्याः 328–329
20. लाल बहादुर वर्मा– इतिहास के बारे में, साहित्य उपक्रम, जनवरी 2010 संस्करण पृष्ठ संख्या–82
21. प्राथमिक स्रोत, डॉ0 तुलसीराम– दलित साहित्य की राजनीतिक अवधारणा (दलित प्रसंग) द्वितीयक स्रोत–ओमप्रकाश बाल्मीक, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र प्राथमिक स्रोत, डॉ0 तुलसीराम– दलित साहित्य की राजनीतिक अवधारणा (दलित प्रसंग) द्वितीयक स्रोत–ओमप्रकाश बाल्मीक, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र
22. सम्पादन– श्री कैशाल चन्द्र सेठ, श्री मोहनदास नैमिशराय, बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड–6 डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली द्वितीय संस्करण– अप्रैल 1998, पृष्ठ संख्या–146
23. संपादक (समन्वय)– श्री कैलाश चन्द्र सेठ, श्रीमती भारती नरसिंहमन बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय खंड–1 पृष्ठ संख्या–106
24. वही, पृष्ठ संख्या–59
25. सुवीरा जायसवाल–जातिवर्ण व्यवस्था अनुवादक– आदित्य नारायण सिंह ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली प्रथम हिन्दी संस्करण–2004, पृष्ठ संख्या–226
26. वही, पृष्ठ संख्या–230
27. सुमित सरकार–आधुनिक भारत 1885–1947 अनुवाद–सुशीला डोभाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2010 संस्करण, पृष्ठ संख्या–92
28. डॉ0 अम्बेडकर– मूकनयाक अनुवाद व संपादन –डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली प्रथम संस्करण–2008, पृष्ठ संख्या 24
29. बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय खंड–1 पृष्ठ संख्या– 66
30. संकलन एवं संपादन –आर0 के0 प्रभु, यू0 आर0 राव महात्मा गांधी के विचार, अनुवाद– भवानी दत्त पंड्या नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया 2011 संस्करण, पृष्ठ संख्या– 100–101
31. सुमित सरकार– आधुनिक भारत 1885–1947, पृष्ठ संख्या–350
32. बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्यम खंड–1 पृष्ठ संख्या– 105
33. बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्यम खंड–6 पृष्ठ संख्या–90
34. कँवल भारती – दलित विमर्श की भूमिका इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद 2007 संस्करण, पृष्ठ संख्या–140
35. 'पूँजी का विकट भ्रमजाल' – दिनेश कुमार शुक्ल की कविता का अंश
36. अभय कुमार दुबे– अछूत की शिकायत (आलेख) सम्पादक– अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2007 संस्करण, पृष्ठ संख्या–37
37. प्रवेश कुमार –दलित अस्मिता की राजनीति, मानक पब्लिकेशन्स प्रा0 लि0, दिल्ली, प्रथम संस्करण–2011, पृष्ठ संख्याः 68–69

38. स0 –श्री कैलाश चन्द्र सेठ, श्रीमती भारती नरसिंहमनः बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय खंड–1, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण–2011 पृष्ठ संख्या–78
39. स0 –श्री ओम प्रकाश काश्यप, बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय खंड–16, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, संस्करण–अगस्त 2000, पृष्ठ संख्या–228
40. ए0 आर0 देसाई–भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, अनुवाद–प्रयागदत्त त्रिपाठी, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, संस्करण 1999, पृष्ठ संख्या–212

41. प्राथमिक स्रोतः डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकर– राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस, वाल्यूम–17, पार्ट–3 द्वितीयक स्रोतः कंवल भारती– सामाजवादी अम्बेडकर, स्वराज प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण–2009, पृष्ठ संख्या–132
42. अजय कुमार– दलित पैंथर आंदोलन, स0–एस0 एस0 गौतम, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, प्रथम संस्करण–2006, पृष्ठ संख्या– 86

43. डॉ0 आनन्द तेलतुम्बडे – उत्तर अम्बेडकर समय में दलित आंदोलन, दलित मुक्ति संगठन करनाल, प्रथम संस्करण–अप्रैल 2005, पृष्ठ संख्या–18
44. कंवल भारती –दलित राजनीति का संक्षिप्त इतिहास, स0– राजकिशोरः दलित राजनीति की समस्याएँ, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण– 2008, पृष्ठ संख्या–20
45. डॉ0 विवेक कुमार– बहुजन समाज पार्टी एवं संरचनात्मक परिवर्तन, सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण–2007, पृष्ठ संख्या–38
46. प्रवेश कुमार–दलित अस्मिता की राजनीति, पृष्ठ संख्या–31
47. स0 –अभय कुमार दुबेः राजनीति की किताब, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2007, पृष्ठ संख्या– 192
48. देखें डॉ0 विवेक कुमार का लेखः
49. भारतीय राजनीति में जाति के इस्तेमाल का जहाँ स्वर्ण/ब्राह्मण लेखक मानवता का कलंक कहकर परिभाषित करते हैं, वहीं दलित लेखक उसे 'जाति चेतना का राजनीतिकरण' कहकर वंचित जातियों के उत्थान तथा संरचनात्मक परिवर्तन की मांग कहते हैं। स0– देवेन्द्र चौबे– सहित्य का नया सौन्दर्य शास्त्र, किताबधर प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2006, पृष्ठ संख्या–165

50. प्रवेश कुमार– दलित अस्मिता की राजनीति, पृष्ठ संख्या–30
51. अभय कुमार दुबे– अछूत की शिकायत, स0– अभय कुमार दुबेः आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण– 2007, पृष्ठ संख्या–47

52. प्रवेश कुमार– दलित अस्मिता की राजनीति, पृष्ठ संख्या– 138
53. अजय बोस –बहन जी, अनुवाद– पूनम कौल, वाणी नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2008, पृष्ठ संख्या–12
54. डॉ0 आनन्द तेलतुम्बडे– उत्तर अम्बेडकर समय में दलित राजनीति, पृष्ठ संख्या–6

55. केन्द्रीय सहयता का कड़वा सच व उत्तर प्रदेश की उपेक्षा एवं बी0 एस0 पी0 सरकार के तीन वर्षों के कार्यकाल के प्रमुख मदों में बजट का व्यय व महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ– सूचना एवं जनसम्पक्र विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, पृष्ठ संख्या–10

56. वही, पृष्ठ संख्या– 1
57. देखें– वहीं– बसपा सरकार द्वारा किए गए कार्यों को रिपोर्ट व लेखा–जोखा
58. प्राथमिक स्रोतः डॉ0 बाबासाहेव आंबेडकर–राइटिंग्स एण्ड स्पीचेस, वाल्यूम–10
    द्वितीयक स्रोतः कंवल भारती– समाजवादी आंबेडकर, पृष्ठ संख्या–171

59. स0– अनुज कुमारः बहुजन नायक कांशीराम के अविस्मरणीय भाषण, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, द्वितीय संस्करण– अप्रैल 2007, 98
60. डॉ0 आनन्द तेलतुम्बंडे– उत्तर अम्बेडकर समय में दलित राजनीति, पृष्ठ संख्या–36 देख
61. गजानन माधव मुक्तिबोध का लेख मध्य युगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू, स0 –गोपेश्वर सिंह, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली– 2009 संस्करण
62. प्राथमिक स्रोतः हम दलित, द्वितीयक स्रोतः निरंजन कुमार– मनुष्यता के आईने में दलित साहित्य का माजशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2010, पृष्ठ संख्या–63
63. अजय बोस– बहन जी, पृष्ठ संख्या– 254
64. दलित कवि जयप्रकाश लीलवान के कविता संग्रह का नाम।
65. जयप्रकाश लीलवान–समय की आदमखोर धुन, अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2009, पृष्ठ संख्या–35
66. वही, पृष्ठ संख्या– 63
67. देखें 'पल–प्रतिफल' में अरूण आदित्य का लेखः सामंत का मुशी या कलम का सिपाही, जून सितम्बर 2005
68. कंवल भारती– हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, बोधिसत्व प्रकाशन शमपुर (उ0 प्र0), प्रथम संस्करण– 2006, पृष्ठ संख्या– 43
69. वाणी प्रकाशन से 'भरोसे की बहन' नाम से श्यौराज सिंह बेचैन का कहानी संग्रह।
70. हिन्दी दलित एकांकी संचयन (स0 सर्वेश कुमार मौर्य) में संकलित एकांकी।
71. उमाशंकर चौधरी– दलित विमर्श कुछ मुद्दे कुछ सवाल, आधार प्रकाशन पुचकुला, हरियाणा, प्रथम संस्करण– 2011, पृष्ठ संख्या 8–9

72. कंवल भारती– दलित कविता का संघर्ष, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2012, पृष्ठ संख्या– 211
73. अजय बोस– बहन जी, पृष्ठ संख्या– 257
74. कंवल भारती– हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, पृष्ठ संख्याः 9–10

अध्याय 3

दलित साहित्य की अवधारणा व दलित कविता

3.1 दलित साहित्य की अवधारणा

समकालीन साहित्य में दलित विमर्श एक अनिवार्य उपस्थिति है। तथाकथित मुख्यधारा साहित्य के आलोचक उस पर बात करने से बच तो सकते हैं मगर एकदम से नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। वैसे दलित साहित्य पहले भी मौजूद था मगर सत्ता द्वारा उसे नष्ट करने की हर संभव कोशिश की गई। जो बचा रह गया उसकी कभी नोटिस नहीं ली गई। ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति ने अपने खिलाफ़ उठी हर आवाज़ को दबा दिया। उसके पास तथाकथित ईश्वर और उसके द्वारा बनाई गई वर्ण–जाति व्यवस्था का अकाट्य हथियार था। फिर भी तर्क के योद्धाओं ने समय–समय पर ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति से मुक़ाबला किया। इसकी एवज़ में प्रतिक्रांति की धारा और तेज़ हुई। इससे क्रांति रूकी नहीं, भले ही उसकी गति धीमी हो गई हो। इस तरह दलित आंदोलन प्रत्येक समय में अपने बदले रूप में मौजूद रहा है।

आधुनिक काल में ज्योतिबा फूले ने दलित नवजागरण की नींव रखी। उनके बाद डॉ0 आम्बेडकर ने उनकी विरासत को आगे बढ़ाया। उन्होंने दलितों के सवालों को राजनीतिक सवाल बनाया और उनके लिए सत्ता की मांग की। डॉ0 आम्बेडकर एक जाति विहीन समाज का सपना देख रहे थे। उनकी आत्मकथा 'मी कसा झलो' से प्रेरणा लेकर महाराष्ट्र के दलित साहित्यकारों ने आत्मकथा लेखन की शुरूआत की। दलित पैंथर आंदोलन ने मराठी दलित साहित्य को एक जुझारू तेवर दिया। जैसा कि हम जानते हैं कि मराठी दलित साहित्य ने हिन्दी दलित साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है। कुछ लोग इस प्रभाव से यह साबित करने लगे कि दलित साहित्य पहले मराठी में ही लिखा गया। मगर हिन्दी में दलित साहित्य की धारा पहले से ही मौजूद रही है। सवाल पहले या बाद का नहीं है। दरअसल कुछ लोग हिन्दी पट्टी में पहले से मौजूद दलित धारा को एवं उसके द्वारा उठाई गई सामाजिक न्याय एवं परिवर्तन की आवाज़ को नज़रअंदाज़ करना चाहते हैं।

तो हिन्दी में दलित साहित्य पहले से मौजूद रहा है। मगर 80 के दशक में वह एक नए तेवर के साथ उपस्थित होता है। जब सामाजिक संरचना में बदलाव होता है तो साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहता। 1990 ई0 ऐसा ही समय है। यह, वह समय है जब सामाजिक अवयवों के आपसी सम्बन्ध बदलते हैं और ध्रुवीकरण तेजी से होता है। 1984 ई में बहुजन समाज पार्टी का गठन होता है। 1992 ई0 में मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू किए जाने से रोकने के लिए, फासीवाद ताकतें जनता की मानसिकता अपने हित में तैयार करती हैं। अन्ततः अयोध्या में साम्प्रदायिकता का नगा नाच होता है और बाबरी मस्ज़िद गिरा दी जाती है। इसी समय में नवउदारीकरण को नीति का आगमन होता है। बाज़ार अपने आकर्षक रूप में हमारे घरों तक पहुँच जाता है। इसी खास समय में दलित साहित्य हिन्दी पटटी में एक नई उर्जा के साथ उपस्थित होता है। इन सब घटनाओं का हिन्दी दलित साहित्य के इस नए उभार पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

दलित साहित्य की तह में जाने से पहले 'दलित' शब्द पर विचार कर लेना ज़रूरी है। आख़िर 'शूद्र', 'अंत्यज', 'हरिजन' से होते हुए 'दलित' शब्द कैसे प्रचलन में आया और इसके मानी क्या हैं? "दलित शब्द का कोशीय अर्थ है– जिसका दलन और दमन हुआ है, जो दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट, मर्दित, पस्त–हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि हो।"[1]

साहित्य और आन्दोलन के साथ जुड़कर 'दलित' शब्द को एक नया अर्थ मिला और यह क्रांति एवं परिवर्तन का सूचक बन गया। इस अर्थ में इसका सर्वप्रथम प्रयोग डॉ0 आम्बेडकर के नव बौद्ध अनुयायियों ने किया था। दलित पैंथर्स ने दलित में पैंथर को जोड़कर इसे और आक्रामक बना दिया। दलित पैंथर के कार्यकर्ताओं ने दलित की व्याख्या वर्गीय आधार पर की और इसे विस्तार दिया: "अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के सदस्य, नव–बौद्ध, मज़दूर लोग, भूमिहीन तथा गरीब कृषक, महिलाएं तथा वे सभी लोग जिन्हें धर्म के नाम पर एवं राजनैतिक तथा आर्थिक तौर पर शोषित किया जा रहा है।"[2]

किन्तु दलित चिंतक इस परिभाषा को सही नहीं मानते। उनका कहना है कि यह परिभाषा वर्ग के आधार पर की गई है और इसमें जाति पर ध्यान नहीं दिया गया है। दलित समाजशास्त्री डॉ0 विवेक कुमार के अनुसार –"दलित पैंथर्स द्वारा 'दलित' शब्द की उपर्युक्त व्याख्या जातीय न होकर वर्गीय है जिसने आज भी असंख्य लोगों को भ्रम में ड़ाल रखा है। एक यह कि उपर्युक्त व्याख्या सर्वहारा एवं अस्पृश्य (दलितों) के बीच भेद को इंगित नहीं करती। दूसरा, यह परिभाषा अनुसूचित जाति एवं जनजाति के भेद को भी नकारती है।"[3]

इससे साफ़ होता है कि डॉ0 विवेक कुमार केवल अनुसूचित जाति को ही दलित मानने के पक्ष में हैं। उनके ये तर्क ठीक हैं कि सर्वहारा और अस्पृश्य में बहुत अंतर है और अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति में भी। हिन्दू धर्म–संस्कृति से अलग रहने के कारण अनुसूचित जनजाति को ब्राह्म्णवाद का सामना नहीं करना पड़ा। दलित चिंतक कंवल भारती, दलित को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं:

"जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया, जिसे कठोर और गन्दे कर्म करने के लिए बाध्य किया गया, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर अछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और सिर्फ़ वही दलित है।"[4]

शरण कुमार लिंबाले, दलित को विस्तृत करने के पक्ष में दिखाई देते हैं। उनके अनुसार: "गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियां, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मज़दूर,

श्रमिक, कष्टकारी जनता, और यायावर जातियां, सभी की सभी 'दलित' शब्द की परिभाषा में आती हैं।"[5]

ओमप्रकाश बाल्मीकि के अनुसारः "दलित शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयोग होता है जो समाज व्यवस्था के तहत सबसे निचली पायदान पर है। वर्ण व्यवस्था ने जिसे अछूत या अन्त्यज की श्रेणी में रखा। उसका दलन हुआ। शोषण हुआ, इस समूह को ही संविधान में अनुसूचित जातियां कहा गया जो जन्मना अछूत हैं।"[6]

डॉ0 श्यौराज सिंह बेचैन का मत है– "दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।"[7]

मोहनदास नैमिशराय का कहना है– "दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अन्तर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते... अर्थात सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।"[8]

मराठी कवि नारायण सूर्वे का मत है किः "दलित शब्द की मिली–जुली परिभाषाएं हैं। इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं, समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित हैं।"[9]

वरिष्ठ दलित साहित्यकार माता प्रसाद के अनुसार– "दलित वह है जो आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक दृष्टि से शोषित, उत्पीड़न, उपेक्षित, वंचित, बहिष्कृत, विस्थापित, शमित, दमित, घृणित, अस्पृश्यता का जीवन जीकर गुलामी की पीड़ा भोग रहा है।"[10]

वरिष्ठ आलोचक मैनेजर पाण्डे दलित की व्याख्या इस प्रकार करते हैंः– "जिन्हें भारतीय वर्ण व्यवस्था में शूद्र कहा जाता है या जिन्हें समाज में अछूत माना जाता है।... लेकिन यहाँ मैं केवल उन्हें दलित मान रहा हूँ जो जाति से दलित हैं।"[11]

इस तरह दलित शब्द की व्याख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद दिखाई देता है। एक वर्ग दलित का दायरा बढ़ाकर उसमें तमाम उत्पीड़ितों को शामिल करने के पक्ष में दिखाई देता

है। उत्तर प्रदेश की राजनीति में कांशीराम ने दलित वर्ग में अनुसूचित जाति सहित, पिछड़ों अल्पसंख्यकों को भी शामिल किया था। मगर बात बन नहीं पाई। यह राजनीतिक सोच राजनीति की भेंट चढ़ गई। इसी तरह सन 1981 में शुरू हुई दलित साहित्य अकादमी की पत्रिका दलित वॉयस ने पूर्व–अछूतों, सभी सताए गए अल्पसंख्यकों और अन्य पिछड़े वर्गों को भी दलित मानने की घोषणा कर दी। साथ में यह सतर्कतकता जरूर बरती गयी कि पूर्व अछूतों द्वारा झेले गए सामाजिक उत्पीड़न पर विशेष जोर दिया जाए ताकि उनमें और अन्य दलितों में फर्क किया जा सके।"–[12]

दूसरा वर्ग केवल अनुसूचित जाति को ही दलित मानता है। इसमें अस्पृश्यता को मुख्य आधार बनाया गया है। सही भी है क्योंकि अनुसूचित जनजाति और 'अन्य पिछड़े वर्ग' को अस्पृश्यता का दंश नहीं झेलना पड़ा। अनुसूचित जनजाति और अन्य शूद्र वर्गों में पर्याप्त आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक भिन्नता है। सवाल अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़ा वर्ग से भी पूछा जाना चाहिए कि क्या वे स्वंय को दलित मानते हैं? अगर हम अस्पृश्यता को मुख्य आधार मानकर 'दलित' शब्द की व्याख्या करते हैं तो भविष्य में इससे दिक्कत पैदा हो सकती है। कुछ अतिवादी विचारक यह तर्क भी दे सकते हैं कि अनुसूचित जाति में भी कुछ उपजातियां अस्पृश्यता की शिकार नहीं हैं। उन्हें भी दलित न माना जाए। रही पिछड़ा वर्ग को शामिल करने की तो अनुसूचित जाति के इस वर्ग के साथ पिछले कई सालों से 'पिछड़े वर्ग के लोग ही दलितों का उत्पीड़न करते आ रहे हैं। जहाँ बिहार व पूर्वी उत्तर प्रदेश में वर्चस्वशाली जाति यादव दलितों का उत्पीड़न कर रही है, वहीं पश्चिमी उत्तर प्रदेश व अन्य क्षेत्रों में जाट। महाराष्ट्र में भी पिछड़ी जाति के वर्चस्वशाली समुदाय दलितों का शोषण कर रहे हैं। खैरलांजी की वीभत्स घटना को इन्हीं समुदायों ने अजांम दिया था। दलितों–पिछड़ों में पर्याप्त असमानता है। इस प्रकार दलित आज केवल अनुसूचित जाति के लिए ही प्रयुक्त हो रहा है। हम चाहते हैं कि दलित का दायरा व्यापक हो और इसमें तमाम उत्पीड़ितों को शामिल किया जाए। और यह उम्मीद साहित्य के क्षेत्र से ही की जा सकती है। राजनीति के क्षेत्र से अभी ऐसी आस रखना बेमानी होगा। 'जातियों के राजनीतिकरण'[13] के चलते जाति राजनीति पर हावी है। अगर राजनीति ऐसा करने में सफल होती है तो सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई में यह अहम कदम होगा। साहित्य में पिछले कुछ दिनों से 'ओ0 बी0 सी0 साहित्य' या 'बहुजन साहित्य'[14] की बहस चल रही है। अन्य पिछड़े वर्ग द्वारा की गई पहल का स्वागत इसलिए किया जाना चाहिए, शायद दोनों साहित्य (बहुजन और दलित) के संवाद से कुछ बात बने। ख़ैर अभी तो 'ओ0 बी0 सी0 साहित्य' या बहुजन साहित्य की अवधारणा को लेकर बहस ज़ारी है। दलित शब्द भी अभी ज़ेरे बहस है। इसलिए फिलवक्त हम दलित शब्द का प्रयोग वर्तमान प्रचलित अर्थ (अनुसूचित जाति) में ही करेंगे।

ऐतिहासिक तौर पर दलित शब्द का सर्वप्रथम इस्तेमाल डॉ0 आंबेडकर के नव बौद्ध समर्थकों ने किया था। दलित पैंथर की स्थापना करके उन्होंने इसे नया जुझारू तेवर दिया। इससे पहले दलित के लिए बहुत से शब्द प्रचलित थे, मगर यहाँ पर पूर्व के आंदोलन व साहित्य के लिए भी दलित शब्द इस्तेमाल किया जा रहा है। डॉ0 आबेडंकर से पूर्व के आंदोलन व साहित्य में काफी कमियां थी, उसे डॉ0 आंबेडकर के आंदोलन व उनके आगे के समर्थकों ने क्रान्तिकारी रूप दिया। यहाँ आंबेडकर पूर्व के आंदोलन व साहित्य को समकालीन दलित साहित्य व आंदोलन की पूर्व पीठिका के रूप में उसकी सीमाओं के साथ लिया जा रहा है। यही पूर्वपीठिका आगे के दलित साहित्य व आंदोलन का रास्ता बनाती है। इसलिए इसकी महत्ता बढ़ जाती है।

जब यही दलित शब्द साहित्य में जुड़ता है तो तमाम स्थापित वर्चस्व के खिलाफ प्रतिरोध की आवाज़ बन जाता है।ब़कौल दलित कवि ओमप्रकाश बाल्मीकिः "दलित शब्द साहित्य से साथ जुड़कर एक ऐसी साहित्यिक धारा की ओर संकेत करता है, जो मानवीय सरोकरों और संवेदनाओं की यर्थाथवादी अभिव्यक्ति है।"[15]

इस तरह दलित साहित्य हिन्दू समाज के सबसे निचले पायदान पर स्थित वर्ग की आत्मअभिव्यक्ति है। किन्तु यह आत्मअभिव्यक्ति सिर्फ आत्म तक सीमित न रहकर पूरे शोषित समाज को अपने दायरे में ले लेती है। दलित चिंतक कँवल भारती के अनुसारः "दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन–संघर्ष में दलितों ने जिस यर्थार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उन्हीं के द्वारा उसी की अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला का नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है।"[16]

यहाँ पर दलित साहित्य में एक और सवाल अभरता है के दलित साहित्य कौन लिख सकता है। सारा मसला 'स्वानुभूति' बनाम 'सहानुभूति' पर आकर टिक जाता है। दलित साहित्यकारों का तर्क है कि दलित साहित्य, दलितों के भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति है। गैर दलितों ने वह सब नहीं भोगा जो दलितों को भोगना पड़ा। इसलिए अपनी बात को जिस तल्ख़ी या प्रामाणिकता के साथ दलित साहित्यार कह सकता है, ग़ैर दलित नहीं। बात ठीक है, गैर दलित, दलितों की पीड़ा को दलितों की तरह नहीं समझ सकते। तो क्या केवल दलित ही दलित साहित्य लिख सकता है? इस बात में कोई सन्देह नहीं कि 'स्वानुभूति' के आगे 'सहानुभूति' का वर्णन फीका ही लगेगा। मगर 'स्वानुभूति', 'सहानुभूति' के आगे जाकर क्या कोई 'सहजानुभूति' नहीं हो सकती?

यह ठीक है कि कोई 'पुरूष', 'स्त्री' नहीं हो सकता, मगर क्या वो सहजानुभूति के ज़रिए ईमानदारी से उसके दर्द को नहीं समझ सकता? हमारी राय में गैर दलित भी दलित साहित्य लिख सकता है, बस उसके लेखन में लेखकीय ईमानदारी होनी चाहिए। उसका लेखन हर प्रकार के वर्चस्व का नकार होना चाहिए। दलित साहित्य को निश्चित ही ऐसे ईमानदार मित्रों का स्वागत करना चाहिए।

दलित साहित्य के प्रेरणा स्रोत गौतम बुद्ध, सिद्ध नाथ कबीर–रैदास, फूले और डॉ0 आम्बेडकर इत्यादि है। किन्तु राजनीति में डॉ0 आम्बेडकर का प्रतिनिधित्व प्रखर होने से उन्हें साहित्य में भी प्रतिनिधित्व मिला है। दलित साहित्य का केन्द्र मनुष्य का भौतिक–वास्तविक जीवन है। यह साहित्य दलितों के शोषण का विरोध, ईश्वर एवं अन्धविश्वासों के नकार तथा उनसे मुक्ति का उद्घोषक है। दलित साहित्य वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था तथा साम्प्रदायिक्ता का तीख़ा विरोध करता है। वह तथाकथित धर्म–ईश्वर व संस्कृति पर सवालिया निशान लगाता है। दलित कवि मलखान सिंह के शब्दों में:

"सुनो वशिष्ठ

द्रोणाचार्य तुम भी सुनो

हम तुमसे घृणा करते हैं

तुम्हारे अतीत

तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं"[17]

दलित साहित्य में यह स्वर नया नहीं है। यह स्वर उसने अपनी प्रतिरोध की पंरपरा से प्राप्त किया है। कबीर के 'कहत कबीर' और रैदास के 'कह रैदास' में भी यही भाव विघमान था।

दलित साहित्य में दलित साहित्यकारों ने अपनी यातना एवं उत्पीड़न को अभिव्यक्ति दी है। दलित साहित्य इतिहास की पुर्नव्याख्या चाहता है। ऐसा ना होने पर वह खुद नया इतिहास गढ़ने में संलग्न है। दलित ब्राह्मणवादी इतिहास को देखता है तो पीड़ा और छल के अलावा उसके हाथ कुछ नहीं लगता।

यही हाल साहित्य का भी रहा है। दलित, साहित्य की दुनिया से भी बेदख़ल रहे हैं। मोहनदास नैमिशराय साहित्य के ब्राह्मणवादी चेहरे को बेनक़ाब करते हुए कहते हैं: "सही मायने में भारतीय साहित्य हिन्दू (सवर्ण) समाज का प्रतिनिधित्व करने वाला 'हिन्दू साहित्य' ही रहा है, दलितों का प्रतिनिधि साहित्य वह नहीं हो सका। दलितों की अकुलाहट, आक्रोश

और स्वाभिमान से जीने की उनकी जिजीविषा को कभी साहित्य में अभिव्यक्ति नहीं मिली।"[18]

क्या भारतीय साहित्य के इस सत्य से कोई इन्कार कर सकता है? मगर आज जब दलित स्वंय अपना इतिहास, साहित्य दर्ज़ कर रहे हैं तो उन्हें जातिवादी बताया जा रहा है। तथाकथित 'नामवर आलोचक', दलित साहित्य जैसी किसी साहित्यिक धारा के अस्तित्व में होने से ही दो टूक शब्दों में इन्कार कर देते हैं। वैसे दलित साहित्य को इन 'नामवर आलोचकों का प्रमाण पत्र चाहिए भी नहीं। शतुरमुर्ग की तरह रेत में सिर धसाए प्रगतिशील विद्वानों की प्रगतिशीलता भी दलित समाज ने देखी है। दलित साहित्य ऐसे ही प्रगतिशीलों को यह बताने की कोशिश कर रहा है। कि रेत में सिर धसाने से क्रांति नहीं होगी। अचरज की बात है कि इस देश में प्रगतिशीलता भी समय सापेक्ष होती है।

साहित्य की प्रवृत्ति होनी चाहिए–जो है उससे बेहतर की तलाश और अमानवीय का विरोध। प्रवृत्यः सभी जन.कलाएं मानव हितैषी होती हैं, परन्तु सत्ता के लोग और सत्ता की विचारधारा उसे जन विरोधी बना देते हैं। ब्राह्मणवादी कला–साहित्य की यही गति है। सिद्धों–नाथों से लेकर कबीर–रैदास तक ने सूरदास की 'काली कमरिया' पर अपना रंग देखने की कोशिश की, मगर उस पर उनका रंग कहाँ? और जब दलित साहित्यकारों ने कबीर की तरह 'जस की तस धर दीन्हि चदरिया' तब उन्हें जातिवादी और अलगाववादी बताया जा रहा है।

यह है मुख्यधारा के साहित्य का सच। इसलिए दलित लेखक स्वंय चेतना से लैस होकर अपना साहित्य लिख रहे हैं। मुख्यधारा के इतिहास के बरक्स अपना इतिहास गढ़ रहे हैं। अस्मिताबोध, संघर्ष, नकार और बदलाव, दलित चेतना के मूल में हैं। इस चेतना से लैस होकर जो भी दलित साहित्य लिखेगा, वह दलित साहित्यकार होगा, चाहे वह दलित है या गैर दलित आज दलित साहित्यकार, दलित चेतना से लैस होकर साहित्य में सलंग्न है। वह खुद को पहचान चुका है। अब वह इस पहचान को, साहित्य के ज़रिए अपने सहोदरों के साथ साझा कर रहा है। उसका दायरा बढ़ा रहा है। वह पूरी साफ़गोई के साथ सीधे–सादे शब्दों में अपनी बात रख रहा हैं उसका मानना है कि असल ज़िन्दगी की भाषा ही साहित्य की भाषा होनी चाहिए। दलित साहित्य नई ज़मीन लेकर आया है। उसमें भाषा, अन्तर्वस्तु तथा ढाँचे, सब में नए की कवायद है। दलित साहित्य का प्रतिरोध की चेतना से लैस होना ही उसका सौन्दर्य है। दलित साहित्य अपने साहित्य का प्रतिरोध की चेतना से लैस होना ही उसका सौन्दर्य है। दलित साहित्य अपने समाज के बिम्बों–प्रतीकों का इस्तेमाल कर रहा है। जिन बिम्बों–प्रतीकों को साहित्य–जीवन में वर्जित माना जाता था, आज वह दलित साहित्य के ज़रिए साहित्य में बड़ा दायरा घेर रहे हैं। यह सही है कि दलित साहित्य में नए 'सौन्दर्यशास्त्र' एवं नई भाषा गढ़ने पर बहुत ज़ोर है। परन्तु अभी उसे काउन्टर में मुख्यधारा की भाषा का ही इस्तेमाल करना पड़ रहा है। भाषा की समस्या

को कैसे हल किया जाए, यह एक बड़ी समस्या है। एक बात तो तय है, जब हथियार अपने होगें तभी लड़ाई भी जीतेंगे। मध्यकालीन शूद्र व अतिशूद्र संत भाषा के ज़रिए ही जनता तक पहँचे थे। तुलसी जैसे ब्राह्मणवादी संत ने भी लोकभाषा का ही इस्तेमाल किया था। बौद्ध धर्म में विश्वास रखने के कारण दलित साहित्य हिंसा का विरोध करता है। दलित साहित्य के मूल में 'समता', 'स्वतन्त्रता' एवं 'बन्धुत्व' की भावना है। यह साहित्य तमाम स्थापित वर्चस्व को नकारता है तथा इसके केन्द्र में आदमी है। दलित साहित्य, बुद्ध, कबीर, रैदास, फूले, और डॅ0 आम्बेडकर इत्यादि के विचारों को लेकर आगे बढ़ रहा है। इसमें सर्वप्रथम 'स्वानुभाव' को केन्द्रीय दर्ज़ा दिया गया। इस्लिए दलित साहित्य (आधुनिक अर्थों में) आत्मकथा में ही उभरता है। इसलिए शुरूआती दौर का दलित साहित्य एक जैसा है क्योंकि उनके अनुभव एक जैसे हैं। जो लोग अनुभवों की समानता से दलित साहित्य पर एकरसता या नीरसता का आरोप लगाते हैं, उन लोगों को सगुण भक्ति साहित्य में एक रसता क्यों नहीं दिखाई देती? जहाँ एक ही चीज़ को जो है ही नहीं शब्दों के चमत्कार के ज़रिए बार–बार दिखाया गया है। उन राजा–रानियों (रासो ग्रंथ) की कहानियां एकरस क्यों नहीं लगती, जो किसी सुन्दरी के लिए आपस में कटे–मरे जा रहे हैं? क्या शब्दों का चमत्कार ही साहित्य है? अगर इतना भी होता, तो स्वीकार कर लिया जाता। मगर ब्राह्मणवादीं सत्ता–संस्कृति ने साहित्य को केवल शब्दों का चमत्कार ही नहीं बनाया, उसे शोषण का औज़ार भी बनाया। 'कला–कला के लिए' का नारा देने वाले, ज़रूरत पड़ने पर खुद कला को बतौर हथियार, शोषितों के खिलाफ़ इस्तेमाल करते रहे। ओमप्रकाश बाल्मीकि अपनी कविता 'बंधुता शब्द' में कहते हैं:

"इसीलिए, तुम्हारे शब्द बदल जाते हैं

सैनिक टुकड़ियों में

पवित्र पुस्तकें

बन जाती हैं पड़ाव–स्थल

कुचल देने के लिए

किसी भी प्रतिरोध को... ।"[19]

दलित साहित्यकार अब शब्दों की ताकत को पहचान चुके हैं। वह इन शब्दों का इस्तेमाल ब्राह्मणवादी व्यवस्था की मुखालफ़त के लिए कर रहे हैं। दलित साहित्य, सत्य का साहित्य है। यह सत्य थोड़ा कठोर और कटु तो होगा ही। मगर ब्राह्मणवादी व्यवस्था के साहित्य के शुरू से कटु नहीं होगा, जो हजारों साल से दलितों के ऊपर थोपा जाता रहा है।

दलित साहित्य को जातिवादी और अलगाववादी कहने वाले लोगों को यह समझ लेना चाहिए यदि दलित साहित्य जातिवादी होता तो उसके साहित्य (काल्पनिक ही सही) में अब तक ऐसे पात्र आ गए होते जो प्रतिक्रिया स्वरूप ब्राह्मणवादियों के घर जला रहे होते (ख़ैर हम ऐसा चाहते नहीं) इस तरह दलित साहित्य 'स्वानुभव' को प्राथमिकता देकर दलितों की यातना एवं पीड़ा को अभिव्यक्ति दे रहा है। उसके केन्द्र में डॉ0 आम्बेडकर के विचार हैं, जिनसे लैस होकर वह आगे बढ़ रहा है। दलित साहित्य हर प्रकार के वर्चस्व का नकार करता है। वर्ण–जाति व्यवस्था', पितृसत्तावाद, साम्प्रदायिकता इत्यादि की वह कठोर शब्दों में आलोचना करता है। मानव धर्म बौद्धधर्म में विश्वास रखने के कारण वह अहिंसा का क़ायल है। वह 'समता', 'स्वतन्त्रता', एवं 'बन्धुत्व' के आधार पर एक नए समाज का निर्माण करने के लिए कृत संकल्प है। दलित समाज में फैले जातिवाद को भी 'दलित साहित्य' ने अपने निशाने पर लिया है। दलित साहित्य प्रतिपक्ष में भी दायित्व बोध जगाने का प्रयास कर रहा है। वह हिंसा का जवाब हिंसा से नहीं देना चाहता। जयप्रकाश कर्दम अपनी कविता 'किले' में इसीलिए कहते हैः

"रोक लेती है मेरे कदमों को

मेरे पूर्वजों की सीख कि

हिंसा नहीं है हिंसा का जवाब..."[20]

आज दलित साहित्य के सामने चुनौतियां बढ़ी हैं। इन चुनौतियों से निपटकर उसे आगे बढ़ना होगा। बाज़ार अपनी नवउदारवादी नीतियों के साथ हमारे घरों तक पहुँच चुका है। दलितों के लिए अपने शुरूआती दौर में बाज़ार हितकर हो सकता है। अन्ततः वह नुकसान ही पहुँचाएगा। दलितों में जो मध्यवर्ग उपजा है वह तेज़ी से बाज़ार की तरफ आकर्षित हो रहा है। इससे उसकी आम दलित से दूरी बढ़ी है। 'भूमण्डलीकरण' के नाम पर 'ग्लोबल विलेज' की जो तस्वीर पेश की जा रही है वह सिर्फ़ चन्द लोगों के लिए ही है। इससे दलित वर्ग को कोई फ़ायदा नहीं होने वाला। बाज़ार पर भी ब्राह्मणवादी शक्तियों का कब्ज़ा है जो सारी नीतियां हाशिये पर पड़े लोगों के खिलाफ़ ही बनाती है। ब्राह्मणवाद ने आज शोषण के बारीक तरीकों को अपना लिया है। जिसे पकड़ पाना आसान नहीं है। सत्तातन्त्र, मीडिया, बाज़ार, सब उसके सहभागी हैं। दलित साहित्य को इन्हीं चुनौतियों से दो–दो हाथ करते हुए आगे बढ़ना होगा। श्यौराज सिंह बेचैन कहते हैंः

"स्वयं पीड़ित

स्वयं ही हूँ साक्ष्य

प्रेक्षकों पर

है नहीं विश्वास

न्याय बेला

आ रही है पास।"[21]

3.2 दलित कविताः कारण व दृष्टि

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की एक कविता है– 'एक चीनी शेर की नक्काशी देखकर', इस कविता में वह कहते हैं:

"तुम्हारे पंजे देखकर
डरते हैं बुरे आदमी
तुम्हारा सौष्ठव देखकर
खुश होते हैं अच्छे आदमी
यही मैं चाहूंगा सुनना
अपनी कविता के बारे में।"[22]

ब्रेस्ट की ये पंक्तियां साहित्य और समाज के रिश्ते को ज़ाहिर करती हैं। हमारे ख़्याल से साहित्यकार और पाठक दोनों साहित्य से यही उम्मीद कर सकते हैं। यह उम्मीद बेमानी नहीं है। साहित्य केवल आनंद की वस्तु नही हैं। उसका कुछ सामाजिक दायित्व भी होता है। मगर बहुत समय तक साहित्य को केवल आनंद की वस्तु माना जाता रहा। आज भी ऐसे लोग मौजूद हैं जो 'कला–कला के लिए' के हिमायती हैं। ऐसे लोग ही साहित्य को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' और 'दैवी प्रेरणा' की संज्ञा देते हैं।

हिन्दी साहित्य पर नज़र डाले तो प्रगति–प्रयोग युग से पहले तक मुख्यधारा की कविता लगभग अरदास करती रही। कभी ईश्वर की कभी सामन्तों की, कभी अंग्रजों की तो कभी काल्पनिक रूपसियों की। बहुत बाद में आकर वह जनवादी रूख़ अख़्तियार करती है। मगर उसके इस जनवादी रूख़ पर भी ग़ौर करने की ज़रूरत है। मुख्यधारा की कविता के बरक्स दलित कविता अपनी खास संरचना में शुरू से ही जनवादी रही है। दरअसल दलित कविता का जन्म ही साहित्य में 'वर्ग–संघर्ष' के प्रतिफ़लन के रूप में हुआ था। सिद्धों–नाथों और कबीर–रैदास इत्यादि शूद्र व अतिशूद्र संतों की कविता इस वर्ग संघर्ष का सबूत है। मगर न तो दलित कविता की नोटिस "कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य–स्थापन है"[23] कहने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ली और न ही 'कविता के नए प्रतिमान'[24] तलाशने वाले मार्क्सवादी आलोचक नामवर सिंह ने पता नहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वह कौन सा जगत था और न जाने कौन से 'मार्मिक पक्ष' कि जिसमें न तो कभी दलित जीवन ही अट सका, न ही उनकी कविता। मुख्यधारा की कविता ने साहित्य के ज़रिए 'मानव', सहज

लघु मानक मानव' की खोज तो ज़रूर की मगर उसे कभी दलित मानव दिखाई नहीं दिया। ऐसा नहीं है कि मुख्यधारा के कवियों ने दलित जीवन पर कविताएँ लिखी ही नहीं। ज़रूर लिखीं, गाँधी के हरिजन आंदोलन से प्रभावित होकर बहुत से कवियों ने दलित जीवन पर कविताएँ लिखीं। प्रगतिशील कहे जाने वाले कवियों ने भी दलितों पर नज़रे–इनायत की। इन कविताओं की पड़ताल हम आगे करेंगे।

दलित कविता ज़िन्दगी की कविता है। यह सीधे ज़िन्दगी से आती है और संवाद स्थापित करती है। बिना संवाद स्थापित किए वह ज़िन्दा नहीं रह सकती। क्योंकि दलित कविता दलितों की ज़रूरत से जुड़ी है। ब्राह्मणवादी कवियों के लिए कविता शौक की चीज़ हो सकती है। मगर दलित कविता कविता ही नहीं, आंदोलन भी है। जिसमें दलितों के दुख–दर्द के साथ एक बेहतर जिन्दगी जीने का सपना पलता है। दलित कविता अतीत के जख़्म कुरेदकर टीस देती है तो भविष्य में उन ज़ख़्मों के लिए मरहम की आस भी जगाती है। मुख्यधारा की कविता और दलित कविता में अंतर स्पष्ट करते हुए दलित चिंतक कंवल भारती कहते हैं:

"हिन्दी के भद्र कवि जिस समाज और वर्ग से आते थे, वह विशेषाधिकार प्राप्त समाज था और सासक वर्ग था। उनका समाज उन दुखों से मुक्त था, जिनसे दलित समाज ग्रस्त था। दुःख–मुक्त समाज के ये कवि मस्त थे और सौंदर्य के उपासक थे। कविता करना उनका था और इसलिए वे कलावादी थे। इसके विपरीत शोषित, शासित और बहिष्कृत समाज से आए दलित कवियों के लिए कविता शौक न था, अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति का साधन था।"[25]

कंवल भारती ने एकदम ठीक बात कही है मगर वे एक बात भूल गए कि 'कला–कला के लिए' का नारा लगाने वाले 'कलावादी' समय–समय पर कला को उत्पीड़ितों के खिलाफ़ औजार की तरह इस्तेमाल करते रहे हैं। वे कला के ज़रिए अपना पूरा करते तो भी बात ठीक थी मगर उन्होंने कला को दमन का हथियार बनाया। ऐसी ही कविता की पहचान करते हुए जय प्रकाश लीलवान, 'सामन्त कवियों के विरूद्ध' नाम की अपनी कविता में कहते हैं:

"जानती हो–माँ

कि हमारी आज और पीछे की

सारी पीढ़ियाँ

इन्हीं की कविताओं की

वफ़ादारी करने की

सजा भुगतती आई हैं।।"[26]

इस तरह दलित कविता अभी तक चली आ रही कविता की परिभाषा पर भी सवाल खड़ा करती है। वह कविता की नई मानवीय परिभाषा गढ़ती है और इस क्रम में दलित कविता मुख्यधारा की कविता के खिलाफ़ खड़ी हो जाती है। दलित कवियों का मानना है कि जो कविता 'इन्सान' के शोषण, उत्पीड़न के खिलाफ नहीं खड़ी है, वह कविता नहीं हो सकती। दलित कविता का आग्रह है कि कविता को उत्पीड़ितों के पक्ष में खड़ा होना चाहिए। ब्राह्मणवादी साहित्यकारों–कवियों ने एक तरफ़ कलावाद का नारा बुलन्द किया तो दूसरी तरफ़ कला–साहित्य में जातिवाद भी फ़ैलाया। मुख्यधारा की कविता आम आदमी से दूर होते हुए, सत्ता के साथ खड़ी हो गई। इस तरह वह सत्ता के पक्ष में आम आदमी के खिलाफ़ एक औज़ार बन गई। साहित्य का दरवाज़ा दलित कवियों के लिए बन्द ही रहा। मुख्यधारा की इस प्रवृत्ति के विरोध में दलित कविता ने आवाज़ उठाई। बक़ौल ओमप्रकाश बाल्मीकिः "जिस संस्कृति ने मनुष्य और मनुष्य के बीच विभेदों की दीवार खड़ी की, एक मनुष्य को दूसरे का मलमूत्र ढोने को बाध्य किया गया, उस संस्कृति के प्रति एक दलित कवि की क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए, यह एक गम्भीर और विचारणीय प्रश्न है, जिसका उत्तर हिन्दी साहित्य देने में असमर्थ रहा है। इसीलिए दलित कविता ने इसके विरूद्ध आवाज उठायी।"[27]

सवाल एकदम वाज़िब है मगर इसके जवाब में दलित कविता को जातिवादी और अलगाववाद कहा गया। आश्चर्य होता है कि खुद को मार्क्सवादी कहने और कहलवाने वाले आलोचक भी दलित कविता के खिलाफ़ खड़े हैं। दलित कविता ने अपनी राह ऐसी ही मुश्किलों से जूझने हुए बनाई है। इस जूझने के क्रम में वह टूटी नहीं बल्कि और मज़बूत हुई है। सदियों से हिन्दूधर्म और उसकी वर्ण–जाति व्यवस्था ने दलितों पर जो अत्याचार किए, वहीं दलित कविता के जन्म के कारक बने। आज की दलित कविता अपनी आंदोलनधर्मी परंपरा को एक नए तेवर के साथ आगे बढ़ा रही है। दलित कविता के केन्द्र में डॉ0 आम्बेडकर एवं उनका चिंतन है। मगर वह गौतम बुद्ध सिद्धों–नाथों, कबीर–रैदास शूद्र व अति शूद्र संतो व ज्योतिबा फूले आदि आंदोलनकारियों से पर्याप्त ऊर्जा लेती है। नकार, दलित कविता का प्रमुख तत्व है। अपनी खास संरचना में दलित कविता हर प्रकार के वर्चस्व का नकार करती है। प्रतिरोध की चेतना से लैस होना ही दलित कविता और साहित्य का सौन्दर्य है। प्रचलित सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिमान दलित कविता के मूल्यांकन के लिए नाकाफ़ी हैं चुनांचे दलित कविता नया सौन्दर्यशास्त्र गढ़ने का काम भी कर रही है।

दलित कविता ज़िन्दगी की कविता है। उसकी भाषा ज़िन्दगी की भाषा है। दलित कवियों के अनुसार कविता में ज़िन्दगी की भाषा होनी चाहिए। इस तरह दलित कविता किसी खास भाषा के वर्चस्व को नकारती है। दलित कविता में जिन बिम्बों–प्रतीकों का इस्तेमाल हो

रहा है, वह असल ज़िन्दगी के बिम्ब–प्रतीक हैं। जिन बिम्बों–प्रतीकों को साहित्य–जीवन में वर्जित माना जाता था आज वे दलित साहित्य में बड़ा दायरा घेर रहे हैं। दलित कविता मिथकों का पनुर्पाठ कर रही है ओर नए मिथक भी गढ़ रही है। 'शंबूक का कटा सिर' नाम की कविता में ओमप्रकाश बाल्मीकि कहते हैं:

"शंबूक तुम्हारा रक्त जमीन के अन्दर

समा गया है जो किसी भी दिन

फूटकर बाहर आएगा

ज्वालामुखी बनकर"[28]

मिथकों के पुनर्पाठ और नए मिथकों के निर्माण से सांस्कृतिक वर्चस्व की लड़ाई में बल मिलता है।

दलित जब मुख्यधारा का साहित्य उठाकर देखता है तो उसके हाथ अपमान और पीड़ा के सिवा कुछ नहीं लगता। पीड़ा भी ऐसी कि किसी आदमी को आदमी ना समझा जाए। ईश्वर से लेकर इतिहास तक, सबने उसके साथ छल किया है। इसलिए 'दलित कविता' तथाकथित ईश्वर और इतिहास दोनों को नकारती है। चुनांचे एक तरफ़ दलित जहाँ अपना इतिहास गढ़ रहा है, वहीं दूसरी तरफ़ वह ईश्वर की सत्ता को भी नकार रहा है। सदियों तक ईश्वर के दरबार से बेदखल रही कौम ने आज खुद ईश्वर को बेदखल कर दिया है। दलित कवि मोहनदास नैमिशराय अपनी कविता ईश्वर की मौत' में ईश्वर की सत्ता पर सवाल खड़े करते हुए कहते हैं:

"ईश्वर की मौत

उस पल होती है

जब मेरे भीतर उभरता है सवाल

ईश्वर का जन्म

किस माँ की कोख से हुआ था?

ईश्वर का बाप कौन?"[29]

दलित कविता मानवीय धर्म बौद्ध धर्म में विश्वास करती है और उसकी तर्कपूर्ण शिक्षाओं को महत्व देती है। वह भाग्य, पुनर्जन्म, धार्मिक पाखण्डों, आडम्बरों तथा स्वर्ग–नर्क की अवधारणा को नकारती है। दलित कवि जानता है कि इन्हीं धार्मिक चोंचलेबाज़ियों के

ज़रिए ब्राह्मणवाद दलितों का शोषण करता आया है। अपनी पीड़ा, शोषण ओर अपमान को याद करके दलित कवि दुखी नहीं होता बल्कि आक्रोश से भर उठता है। दलित कविताओं का मूल चतित्र ऐसा है कि उन्हें पढ़कर आदमी को नींद नहीं आती, बल्कि वह बेचैनी और आक्रोश से भर उठता है। दलित कविताओं की यह सबसे बड़ी सफलता है दलित कविताओं में जो बेहतर ज़िन्दगी का सपना पलता है, वह उसके ज़रिए पाठक की आखों में उतर जाता है। दलित कविताएं केवल दलितों के शोषण का बयान ही नही करती, मुक्ति का एक मॉडल भी पेश करती है। आज दलित कवि स्वयं को पहचान चुका है। अब वह इस पहचान को अपने सहोदरों के साथ साझा कर रहा है, उसका दायरा बढ़ा रहा है। दलित कविता व्यक्तिकता के खिलाफ सामाजिकता को स्थापित करती है। दलित कविता की इस प्रवृत्ति के बारे में ओमप्रकाश बाल्मीकि के विचार हैं: "दलित कविता निजता से ज्यादा सामाजिकता को महत्ता देती है, इसीलिए दलित कविता का समूचा संघर्ष सामाजिकता के लिए है।"[30]

इस संघर्ष के दौर में जहाँ दलित कविता अतीत की बात करती हैं वहीं अपने समकालीन परिवेश से भी जुड़ी हुई है। दलित कविता के दायरे में पूरा समाज है। दलित कविता लम्बे समय तक दलितों के सम्मान के लिए संघर्ष करती रही है। इस दौरान दलितों की भूख हमेशा उसके एजेण्डे में दोयम दर्ज़े पर ही रही। मगर दलित कवि अब इस तरफ ध्यान देने लगे है। उन्हें इस तरफ ध्यान देना भी चाहिए। क्योंकि दलित कविता जिन दलितों की बात करती है, उनकी पूरी ज़िन्दगी दो जून की रोटी की जद्दोजहद में ही गुज़र जाती है। सम्मान ठीक है, मगर दलित कविता को रोटी पर भी बात करनी चाहिए। अगर ऐसा नहीं होगा तो दलित कविता दलितों में उपजे मध्यवर्ग की कविता बनकर रह जाएगी। जिनकी रोटी की समस्या अब दूर हो चुकी और उन्हें सम्मान चाहिए। अच्छी बात है कि इधर की पीढ़ी में आए दलित कवियों ने भूख को कविताओं का मुद्दा बनाया है। जय प्रकाश लीलवान दलितों के लिए बराबरी और रोटी दोनों की मांग करते हैं:

"समाज में

बराबरी और पेट की भूख

के सिवाय

हमारी कोई समस्याएं नहीं।।"[31]

जिन दलित कवियों ने रोटी के सवाल को गम्भीरता से उठाया है, उनमें मलखान सिंह का नाम प्रमुख है। उनकी कविताओं को देखकर लगता है कि दलित कविता जब भूख की बात करती है तो उसमें रोटी पाने की जद्दोजहद भी शामिल होती है। दलित कविता चांद

---

[30] ओम प्रकाश बाल्मीकि– शब्द झूठ नहीं बोलते, अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2012, पृष्ठ संख्या–11
[31] जय प्रकाश लीलवान – समय की आदमखोर धुन, पृष्ठ संख्या– 102

को रोटी नहीं समझती बल्कि उन कारणों की तह में जाती है जिनकी वज़ह से दलित 'दाने–दाने के मोहताज़ हो गए। मलखान सिंह अपनी कविता 'भूख' में उन्हीं कारणों की तह में जाते हैं।

"भूख! हमारी बस्ती में जो

तुलसी का बिरवा है

उसे उखाड़

झाड़ू बनाने की बात

हमारा बेटा कहता है।"[32]

दलित आलोचना इन कविताओं को अभी तक नज़रअंदाज़ करती आई है। अगर दलित कविता को दूरदराज़ के ग्रामीण क्षेत्रों में चल रहे दलित आंदोलन से अपना रिश्ता क़ायम रखना है तो उसे दलितों की रोटी की समस्या को भी अपने ऐजेण्डे में प्रमुखता देनी होगी। दलित आलोचना को चाहिए कि इन कविताओं की नोटिस ले। दलित कविता अगर दलितों के संघर्ष की कविता है तो उसे इस संघर्ष में पीछे छूट गए साथियों को भी साथ लेना होगा। इससे दलित आंदोलन को भी एक नई धार मिलेगी। दलित कविता को सही मायने में राजनीतिक कविता बनना होगा। ओमप्रकाश बाल्मीकि के शब्दों में:

"बिना पसीने की फसल

या कविता

बेमानी है"[33]

अगर यह सही है तो गाँव के खेतों में और दलित आंदोलन में पसीना बहा रहे खेत मज़दूरों और कार्यकर्ताओं से दलित कविता को संवाद क़ायम करना चाहिए। ऐसा नहीं है कि दलित कविता का उनसे संवाद नहीं, किन्तु इधर बीच दलित साहित्य की, दलित जनता से दूरी बढ़ी है। दलित कविता को यह दूरी पाटनी चाहिए, तभी वह अपने असल लक्ष्य की तरफ़ बढ़ पाएगी।

खुशी की बात है कि छोटे शहरों–कस्बों में रहकर दलित आंदोलन के कार्यकर्ता जो साहित्य लिख रहे हैं, वह आंदोलन के दौरान नुक्कड़ नाटकों, डॉ0 आम्बेडकर –रैदास इत्यादि महापुरूषों के जन्म दिन मनाने के ज़रिए दलित जनता तक पहुँच रहा है। दलित साहित्य को चाहिए कि दलित आलोचना ऐसे लोगों व उनके साहित्य की तरफ़ ध्यान दें।

इससे जहाँ दलित साहित्य को नई उर्जा से लैस आंदोलनधर्नी साहित्यकारों–कलाकारों की फौज मिलेगी, वहीं ऐसा करने से दलित आंदोलन भी मज़बूत होगा। दलित कविता स्वानुभव की ज़मीन पर खड़ी है। दलित कवि चेतना से लैस होकर कविताएं लिख रहे हैं। ये कविताएं दलित वर्ग को उसके इतिहास के प्रति जागरूक कर रही हैं। इन्हें पढ़कर दलित वर्ग अपने अयन दुश्मनों की पहचान कर सकता है और अपने अधिकार व सम्मान की लड़ाई के लिए तैया हो सकता है। इन कविताओं से दलित आंदोलन में एक गति, एक पैनापन आता है। दलित कविता प्रतिपक्ष में भी दायित्वबोध जगाने की कोशिश कर रही है।। कंवल भारती प्रतिपक्ष से संवाद करते हुए अपनी कविता 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती? में सवाल करते हैं:

"यदि वेदों में लिखा होता

ब्राह्मण ब्रह्मा के पैर से हुए है पैदा।

उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं।

तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती?"[34]

वर्तमान समय में शोषण की बारीकी बढ़ी है। दलित कविता उसे पकड़ने का प्रयास कर रही है। सामाजिक ढाँचे में जो परिवर्तन हुआ है, उससे साहित्य में भी बदलाव आया है। दलित कविता भी इससे अछूती नहीं। इस समय में जब ब्राह्मणवाद–पूंजीवाद का गठजोड़ तमाम उत्पीड़ितों के लिए संकट का विषय बना हुआ है, उसके बरक्स दलित कविता एक उम्मीद के रूप में नज़र आती है। यदि साहित्य का काम समाज में बेहतरी लाना है तो दलित कविता उस बेहतरी का मॉडल पेश कर सकती है। क्योंकि दलित कविता जिस समाज का स्वप्न देखती है वह तमाम उत्पीड़ितों के हित में है। दलित कविता समता, स्वतन्त्रता एवं बन्धुत्व में यकीन करती है और इसी आधार पर एक नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है। मलखान सिंह के शब्दों में:

"मकां ऐसा बनाऊँगा

जहाँ हर होठ पर

बन्धुत्व का संगीत होगा

मेहनतकश हाथ में

सब तंत्र होगा"[35]

इस तरह दलित कविता अपने इरादों के साथ आगे बढ़ रही है। किन्तु उसके सामने कुछ नई चुनौतियां भी आई हैं। उसे ब्राह्मणवाद–पूंजीवाद दोनों से लड़ना पड़ रहा है निश्चित ही वह अपनी लड़ाई लड़ रही है किन्तु उसे अपने तेवर को एक नई धार देनी होगी। हम जानते हैं कि सत्ता एक तय दायरे में प्रतिरोध का मौका देती है। दलित कवियों को यह देखना होगा कि कहीं दलित कविता भी तय दायरे में ही प्रतिरोध तो नहीं कर रहीं। सत्ता के तय दायरे में प्रतिरोध करने से कुछ नहीं बनने वाला। इससे गाहे–बगाहे दलितो कि छाटी–मोटी मांगें तो पूरी हो सकती हैं मगर दलितों को इन्हीं छोटी–मोटी गिर्द नहीं धूमना है। उसे अस्मिता से आगे जाकर अस्तित्व की लड़ाई लड़नी होगी। यह दुनिया दलितों की है और उन्हें यह दुनिया चाहिए। दलित कविता को दलितों तक यह समझदारी लेकर जानी चाहिए कि ठीक है, लोकतन्त्र दलितों के लिए हितकर है, मगर वह वर्तमान संसदीय ढांचे का लोकतन्त्र नहीं है। हमें डॉ0 आम्बेडकर के सपनों का लोकतन्त्र चाहिए। दलित कविता वर्तमान लोकतन्त्र पर सवाल खड़े कर रही है, मगर उसे अपनी आवाज़ को और बुलन्द करना चाहिए। ओमप्रकाश बाल्मीकि कहते हैः

"एक दिन मांगा जाएगा

हिसाब

संसद से

मानवाधिकार आयोग से

न्यायपालिका से"[36]

उम्मीद है दलित कविता एक दिन हिसाब ज़रूर मांगेगी और तमाम शोषक, जनता के कटघरे में खड़े होंगे!

3.3 दलित कविताः उद्‌भव और विकास

दलित कविता का उद्‌भव हिन्दू धर्म की अमानवीय व्यवस्था के खिलाफ़ संघर्ष करते हुए हुआ। दलित कविता, दलित आंदोलन से बहुत गहरे जुड़ी रही है। दोनों ने एक दूसरे को प्रेरणा एवं मज़बूती प्रदान की है। दलित लेखन में वही लोग सक्रिय हुए जो दलित आंदोलन में भी सक्रिय रहे। इसलिए दलित कविता स्वयं एक आंदोलन का रूप ले लेती है। दलित कविता–साहित्य को ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति ने नष्ट करने की पुरज़ोर कोशिश की जो आज भी ज़ारी है। दलित कविता–आंदोलन की जो कड़ियां बीच–बीच में टूटती दिखाई देती हैं, उसका कारण ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति द्वारा चलाई गई प्रतिक्रांति की धारा हैं। फिर भी दलित क्रांति की धारा रूकी नहीं। अपने विकास के क्रम में आज वह एक निर्णायक मोड़ पर आ पहुँची है। दलित कविता विकसित–परिवर्तित होते हुए आज जहाँ खड़ी है, उसके पीछे संघर्ष की एक लम्बी परम्परा है।

इस संघर्ष की परम्परा को ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति हमेशा से नज़रअंदाज करती आई है। दलित कविता के रूप में हमें पहले सिद्धों–नाथों का काव्य दिखाई देता है। इनका समय आठवीं शताब्दी के लगभग था। यह बौद्ध धर्म की ही धारा थी जो परिवर्तित–विकसित होते हुए यहाँ तक पहुँची थी। 84 सिद्धों में बहुत से शूद्र कही जाने वाली जातियों से सम्बन्धित थे। माता प्रसाद के अनुसारः "चौरासी सिद्धों में चमार, डोम, धोबी, कहार, लोहार, लकड़हारा, चिड़ीमार, तंतुका, मछुआ आदि जातियां भी थीं।"[37]

इसी तरह का मत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी पेश करते हैंः "यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि 84 सिद्धों में से बहुत–से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दरज़ी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे।"[38]

हिन्दी साहित्य का पहला सबाल्टर्न इतिहास लिखने वाले राजेन्द्र प्रसाद सिंह भी यही तथ्य पेश करते हैं।[39]

सिद्धों ने जातिवाद, धार्मिक आडम्बरों एवं वेदों की झूठी सत्ता पर करारी चोट की। सिद्धों के आचार्य कहे जाने वाले सरहपा ने वेदों की सत्ता एवं ब्राह्मणवाद को खुलकर चुनौती दी। इस प्रकार सिद्ध संत जनता के बीच ब्राह्मणवाद के खिलाफ आंदोलन कर रहे थे। सरहपा ब्राह्मणों की पोल खोलते हुए कहते हैः

"ब्राह्मण न जानते भेद, यों ही पढ़े ये चारों वेद

मट्‌टी, पानी, कुश, लेई पठन्त, धर ही बैठी अग्नि होमन्त।"[40]

यह दलित मुक्ति आंदोलन की धारा थी जो जनता तक, जनता की भाषा में पहुंच रही थी। ब्राह्मणवाद ने इस धारा को हमेशा विकृत करके पेश किया है।

सिद्धों के बाद नाथ सम्प्रदाय आता है। सिद्ध सम्प्रदाय की तरह नाथ सम्प्रदाय में भी नीची माने जाने वाली जातियों के लोग शामिल थे। सिद्ध–नाथ सम्प्रदाय में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले संत गोरखनाथ ने मन्दिर मस्जिद के अलगाव के सम्बन्ध में कहाः

"हिन्दू ध्यावे देहुरा, मुसलमान मसीत

जोगी ध्यावे परमपद, जहाँ देहुरान मसीत।"[41]

इस तरह सिद्धनाथ सम्प्रदाय के अधिकांश संत दलित जनता के बीच से आए थे। वे जनता में जागरण लाने का प्रयास कर रहे थे। इसलिए ब्राह्मणवादी सत्ता ने उनके साहित्य की नोटिस नहीं ली। जिन ब्राह्मणवादी इतिहासकारों ने उनकी नोटिस ली भी, तो उन्होंने उनके साहित्य एवं विचारों को विकृत करके पेश किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सिद्ध–नाथ साहित्य के बारे में अपनी राय ज़ाहिर करते हैं तो उनकी ब्राह्मणवादी मानसिकता खुलकर सामने आती हैः "सिद्धों और योगियों का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते हैं कि उनकी रचनाएँ तात्रिक विधान, योग साधना, आत्म निग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़िया की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं।"[42]

जो साहित्य जनता का है वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में शुद्ध साहित्य नहीं है। यह 'शुद्ध साहित्य' क्या बला है? आज तक हमारी समझ में नहीं आया। जिसके अंतर्गत न तो पहले की दलित कविता आती है और न अब की। इतना ही नहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नाथ सम्प्रदाय में शामिल होने वाली अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता के बारे में गोपीनाथ कविराज ऐंड झा को उद्धत करते हुए उसके बौद्धिक विकास को बहुत सामान्य कोटि का बताते है क्योंकि यह जनता शास्त्र–ज्ञान सम्पन्न न थी।[43]

जिस अशिक्षित और नीची कहे जाने वाली जनता को सदियों तक शिक्षा का अधिकार प्राप्त न था आचार्य शुक्ल जी इसलिए उस जनता के बौद्धिक विकास को सामान्य कोटि का बताते हैं। वास्तव में सिद्ध–नाथ साहित्य हशिये पर पड़े लोगों का साहित्य हैं, जिनके लिए शास्त्र–ज्ञान प्रतिबंधित था मगर उन्होंने रचनांए की तो उन्हें सामान्य बुद्धि का मान लिया

गया। राजेन्द्र प्रसाद सिंह सिद्ध साहित्य के बारे में कहते हैं: "यह समाज के हाशिए के रचनाकारों का साहित्य है, जिसकी नींव पर हिन्दी साहित्य की बुलन्द इमारत खड़ी है।"[44]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ब्राह्मणवादी मानसिकता सिद्ध–नाथ साहित्य के विवेचन में एकदम खुलकर हमारे सामने आती है। उनकी इस मानसिकता को राजेन्द्र प्रसाद सिंह अपने 'सबाल्टर्न इतिहास' में खोलते हैं। ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति का काम इतने पर ही नहीं रूक जाता। सिद्ध–नाथ से लेकर भक्ति आंदोलन के संतों तक, ब्राह्मणवाद ने जातियों का बहुत घपला किया है। संतों की जातियों में बहुत हेर–फ़ेर किया गया है। ख़ैर, सिद्ध–नाथ साहित्य हाशिए पर डाल दिए गए लोगों का साहित्य है। वह उनके जीवन की भाषा में उनके जीवन को पेश करता है। किसी सम्प्रदाय मात्र से सम्बन्धित होने के कारण अगर कोई साहित्य 'साप्रदायिक' हो जाता है तो सम्पूर्ण सगुण साहित्य भी 'साम्प्रदायिक साहित्य' हो जाएगा।

सिद्ध–नाथ की परंपरा विकसित होते हुए भक्ति आंदोलन के शूद्र व अतिशूद्र संतो तक पहुँचती है। मगर यहाँ तक आते–आते उसका रूप काफ़ी कुछ बदल जाता है। संत काव्य की यह धारा त्रिलोचन–नामदेव से होते हुए संत घासीदास तक पहुँचती है। इस संत काव्य धारा की जब शुरूआत हुई तो सूरदास–तुलसीदास का जन्म भी नहीं हुआ था।[45]

इस संत काव्य धारा में भी अधिकांश शूद्र व अतिशूद्र जातियों के संत थे। इनमें भी कबीर–रैदास का स्थान प्रमुख है। इन संत कवियों ने ब्राह्मणवाद का प्रबल विरोध किया। इनके काव्य में हमें स्वत्व की पहचान दिखाई देती है। जहाँ कबीर बड़ी साफ़गोई से खुद को 'जुलाहा' कहते हैं वहीं रैदास खुद को 'खलास चमारा' कहतें हैं। ये संत अपनी पहचान पर ज़ोर देते हुए साहित्य–समाज में उपस्थित हुए। कबीर ब्राह्मणवादियों से सवाल करते हैं: "जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तो आँन वाँट है काहे न आया।"[46]

संत रैदास भी ब्राह्मणवाद पर करारा प्रहार करते हैं:

"रविदास ब्राह्मन मत पूजिये, जो होवे गुन हीन।

पूजिए चरन चंडाल के जउ होवे गुन प्रवीन।।"[47]

ब्राह्मणवाद के प्रखर विरोध में खड़ी हुई यह परम्परा गुरू घासीदास (1820 ई0) तक चलती रही। हांलाकि इसके कुछ सिरे बीच में से ग़ायब हैं। बेशक इसमें ब्राह्मणवादी शक्तियों का हाथ है। ब्राह्मणवादी इतिहासकारों ने कबीर–रैदास इत्यादि संतों को ब्राह्मण साबित करने की पुरज़ोर कोशिश की। जिसका समय–समय पर दलित चिंतकों ने विरोध किया।

संत काव्य धारा के बाद 19वीं शताब्दी में हमें दलित कवि हीरा डोम के बारे में पता चलता है। गुरू घासीदास से लेकर हीरा डोम के बीच की किसी दलित कविता–रचना का साक्ष्य अभी तक नहीं मिला। हीरा डोम की एकमात्र कविता 'अछूत की शिकायत' मिलती है जो 1914 ई0 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में हीरा डोम ईश्वर से सवाल करते हैं। इस कविता में वे दलितों के शोषण का चित्र भी प्रस्तुत करते हैं:

"हमनी के राति–दिन मेहनत करीले जां,

दुइगो रूपयवा दरमहा में पाइबि।

ठकुरे के सुख सेत घर में सुतल बानी

हमनी के जोति–जोति खेतियां कमाइबि।"[48]

इस रचना में विघमान चेतना को देखकर नहीं लगता कि हीरा डोम ने मात्र यही कविता लिखी होगी। किन्तु उनकी किसी अन्य रचना के बारे में अभी तक पता नही चल सका है। इतना ही नहीं स्वयं हीरा डोम के बारे में अभी तक कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इसी समय के लगभग स्वामी अछूतानन्द हरिहर, आदि हिन्दू आन्दोलन को अपने नेतृत्व में चला रहे थे। इन्होंने 1925 ई0 में 'आदि हिन्दू' पाक्षिक और 1929 ई0 में 'अछूत' मासिक पत्र की शुरूआत की। ये आर्य समाज आंदोलन से प्रभावित थे। इनके अतिरिक्त उस समय प0 बख्शीदास, बंशीराम मुसाफ़िर, स्वामी शंकरानन्द, केवलानन्द, अयोध्यानाथ दण्डी, मौजी लाल मौर्य और बिहारी लाल हरित प्रमुख दलित कवि थे। इन कवियों की रचनाएं अमानवीय व्यवस्था का विरोध तो करती हैं। परन्तु उनके पास कोई मुक्ति का मॉडल उपलब्ध नहीं है। इन कविताओ से आगे की दलित कविता की राह बनती है। यही इनकी विशेषता है।

इस समय तक हमें दलित कविता की तीन धाराएं दिखाई देती हैं। आर्य समाज से प्रभावित धारा। इन तीनों धराओं की कविता और चेतना में साफ़–साफ़ अंतर दिखाई देता है। पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका हैं कि आर्य समाज ने जातिवाद के विरोध में कोई निर्णायक काम नहीं किया। हाँ यह सही है कि अन्य सुधार आंदोलनों की अपेक्षा आर्य समाज का जनता पर ज़्यादा असर हुआ था। आर्य समाज से प्रभावित होकर बहुत से दलित एवं गैर दलित कवियों ने दलितों पर कविताएं लिखी। डॉ0 विश्वदेव शर्मा ने ऊँच–नीच को निशाना बनाते हुए लिखा:

"ऊँच–नीच की ये दीवारें धर्म भेद की गहरी खाई।

मनुज–मनुज में भेद भयानक भाई का दुश्मन है भाई।"[49]

आर्य समाज से प्रभावित कवियों ने केवल अपनी कविताओं में उँच–नीच पर निशाना साधा। जबकि समाज में दलित आर्य समाजी व ग़ैर दलित आर्य समाजी का भेद बराबर बना रहा।

कुछ कवि जो कि आर्य समाज के आंदोलन से प्रभावित थे, बाद में डॉ0 आम्बेडकर के आंदोलन से परिचित होते ही वे आम्बेडकरवाद का प्रचार–प्रसार करने लगे। इन कवियों में बिहारी लाल हरित, बदलू राम रसिक, प्रेमचन्द्र आर्य, बुद्ध संघ प्रेमी और मंगल देव विशारद इत्यादि प्रमुख कवि हैं। इन कवियों ने डॉ0 आम्बेडकर इत्यादि दलित महापुरूषों को आधार बनाकर कवितांए लिखीं।

गांधी के हरिजन आंदोलन से प्रभावित होकर हिन्दी के अनेक कवियों ने सहानुभूतिपरक कविताएं लिखीं। इन कवियों में सुभद्रा कुमारी चौहान, सियाराम शरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', निराला इत्यादि कवि प्रमुख हैं। इन कवियों की कविताएं सहानुभूतिवश लिखी गई हैं चुनांचे उनमें बदलाव की कोई चेतना नहीं दिखाई देती। जाति व्यवस्था के खिलाफ़ इन कवियों ने खुलकर कुछ भी नहीं लिखा। हम जानते हैं कि गाँधी का आंदोलन कुछ ठोस नहीं कर पाया। यह ज़रूर हुआ कि इस आंदोलन ने दलितों की एक बड़ी संख्या को अपनी ओर खींचा, जिसमें डॉ0 आम्बेडकर का आंदोलन प्रभावित हुआ। इस आंदोलन से प्रभावित कवियों की कविताओं पर कंवल भारती कहते हैं: "दलित सवालों पर उनका साहित्य न तो क्रांतिकारी है और न विचारोत्तेजक है। वह उनके प्रति सहानुभूति भर प्रकट करता है और हिन्दुओं से उनके साथ अच्छा व्यवहार करने की इसलिए अपील करता है, क्योंकि वे हिन्दुओं के सेवक हैं। यदि वे सेवा नहीं करेंगे तो हिन्दुओं की समस्याएँ बढ़ जाऐंगी।"[50]

बात एकदम ठीक है। इन कविताओं में बदलाव के लिए कोई कसक नहीं मिलती। गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' लिखते है:

"भर जाता घर–घर पखाना,
सिर पर पड़ता तुम्हे उठाना।
मृतक ढोर भी ढोने पड़ते,
बहते रहते घिन के सोते।
सेवक अगर अछूत न होते।"[51]

यही है गाँधी के हरिजन आंदोलन और उससे प्रभावित कवियों का सच। इसके बाद प्रगतिशील आंदोलन से प्रभावित कवि भी थे जिन्होंने दलितों पर कविताएं लिखीं। मगर इन

लोगों के साथ दिक्कत यह रही कि मार्क्सवादी चिंतकों की तर्ज़ पर इन कवियों ने भी जाति की भारतीय सत्यता को भुलाकर वर्ग पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। मार्क्सवादी चिंतकों–कवियों में से अधिकांश केवल विचारों से मार्क्सवादी थे। असल जीवन में वे ब्राह्मणवादी ही रहे।

1950 ई0 के बाद हिन्दी पट्टी में आम्बेडकरवाद के प्रचार–प्रसार का एक नया दौर चला। इस दौर में डॉ0 अंगने लाल, मोती राम शास्त्री, सुन्दर लाल सागर, मंगल देव विशारद, और प0 चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु इत्यादि कवि महत्वपूर्ण हैं। इनमें प0 चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु का प्रमुख स्थान हैं। इन्होंने कविताएं लिखने के साथ ही डॉ0 आम्बेडकर के लेखन को भी प्रकाशित कराया। इससे हिन्दी पट्टी डॉ0 आम्बेडकर को अच्छी तरह जान सकी। इससे दलित कवियों लेखकों और आंदोलनकर्ताओं की एक नई पीढ़ी तैयार हुई जिसे आगे चलकर एक नया इतिहास लिखना था। 1980 ई0 से ही हिन्दी पट्टी का परिदृश्य बदलने लगता है। 1984 ई0 में बसपा की स्थापना से दलित कविता और दलित कवियों की एक खेप आती है जो अभी तक के साहित्य–इतिहास पर सवाल खड़े कर देती है। दलित कवियों की यह पीढ़ी दलित मुक्ति आंदोलन की परंपरा और डॉ0 आम्बेडकर के आंदोलन को अपने भीतर आत्मसात किए हुए आती है। साथ ही यह पीढ़ी मराठी दलित साहित्य और दलित पैंथर आंदोलन से भी बहुत कुछ सीखती है। अगरचे हिन्दी पट्टी में दलितों द्वारा बहुत पहले से कविताएं लिखी जा रही थी। मगर महाराष्ट्र में डॉ0 आंबेडकर के आंदोलन ने दलित कविता को एक नई धार दी। हिन्दी दलित कविता ने मराठी दलित कविता से पर्याप्त प्रेरणा ली। मराठी कविता को त्यंबक सपकाले, बाबू राव बागुल व नामदेव दसाल इत्यादि कवियों ने एक नई उँचाई तक पहुँचाया। इन कवियों ने हिन्दी दलित कविता में उभर रहे नए कवियों को प्रभावित किया और कविता को नई दिशा दी। यह पीढ़ी अपने उभार के दौरान सांप्रदायिकतावाद–फ़ासीवाद के क्रूर रूप और ब्राह्मणवाद–पूंजीवाद के गठजोड़ और नवउदारवादी नीतियों का भी सामना करती है। पूरी तरह पककर यह पीढ़ी दलित कविता के ज़रिए दलित आंदोलन का एक नया इतिहास लिखती है। इस पीढ़ी के कवियों में ओमप्रकाश बाल्मीकि, कंवल भारती, मलखान सिंह, कर्मशील भारती, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, जय प्रकाश लीलवाल, मोहनदास नैमिशराय, असंग घोस, सी0 बी0 भारती, सुशीला टाकभौरे और रजनी तिलक इत्यादि प्रमुख हैं। यह वह समय है जब जातिवाद एक नई करवट लेता है। प्रत्येक जाति खुद को मज़बूत करने में लग जाती है। दलित कवियों की यह पीढ़ी इन नई चुनौतियों से जूझते हुए आगे बढ़ती है।

साहित्य की दुनिया में भी इन कवियों के लिए बहुत मुश्किलें थी। मगर मुश्किलों से दो–चार होते हुए इन कवियों ने दलित कविता की अलहदा राह बनाई। इसके बारें में ओमप्रकाश बाल्मीकि कहते हैं:

"हिन्दी दलित कविता की राह आसान नहीं थी। उसके सामने कई प्रकार की चुनौतियां थी। हज़ारों साल की परम्परावादी भारतीय मानसिकता जो अपने वर्णवादी दायरे से बाहर निकलने को ही तैयार नहीं थी और उसके साथ जुड़ा कुलीनवाद साहित्य में कुंडली मार कर बैठा था। प्रकाशन सस्थानों, पत्र–पत्रिकाओं पर ऐसे लोगों का एकाधिकार था, जो दलित साहित्य के नाम से ही भड़क जाते थे। इन स्थितियों में एक दलित रचनाकार के लिए बेहद निराशापूर्ण समय था, जिसमें अपने लिए जगह बनाना दुष्कर कार्य था... लेकिन दलित कवियों, लेखकों ने जिस प्रतिबद्धता से अपनी राह पकड़ी वह निश्चित की भविष्य की निर्मित का रास्ता था।"[52]

यह पीढ़ी निश्चित ही इस भविष्य की निर्मित के रास्ते आगे बढ़ी। तमाम चुनौतियों को स्वीकार करते हुए भी इस पीढ़ी ने दलित कविता–आंदोलन को आगे बढ़ाया।

क्योंकि ओमप्रकाश बाल्मीकि के शब्दों में:

"मेरी पीढ़ी ने अपने सीने पर
खोद लिया है संघर्ष
जहाँ आँसुओं को सैलाब नहीं
विद्रोह की चिंगारी फूटेगी
जलती झोपड़ी से उठते धुएं में
तनी मुट्ठियाँ
तुम्हारे तहखानों में
नया इतिहास रचेंगी।"[53]

समकालीन दलित कविता ने नए वक़्त की नई चुनौतियों को ठीक तरह से पकड़ा है। वह दलित चेतना से लैस होकर, दलितों में चेतना लाने का प्रयास कर रही है। इन कविताओं का मूल चरित्र ऐसा है कि इन्हें पढ़–सुनकर दलितों को नींद नहीं आएगी बल्कि वह आक्रोश से भर उठेगें। दलित कविताओं की यही सबसे बड़ी सफलता है। दलित कविता को निश्चित ही अभी लम्बा रास्ता तय करना है। उसे तमाम उत्पीड़ितों के साथ खड़े होना है। दलित कविता को दलित मुक्ति का उद्घोष करना है। उसे पूरी तरह राजनीतिक कविता बनना है। दलित अस्मिता की लड़ाई के दलित साथ दलित अस्तित्व की लड़ाई भी लड़नी है। यह काम शुरू हो गया है। अब इसमें गति लानी है। जयप्रकाश कर्दम दो टूक शब्दों में कहते हैं:

"नहीं, तुमको सारा मक्खन

और मुझको छाछ भी नहीं

यह सब नहीं चलेगा

अब हर क्षेत्र में होगी

समान रूप से हिस्सेदारी

शासन–प्रशासन से लेकर

मैला ढोने, जूती गांठने

और झाड़ू लगाने के काम में भी

बांटनी होगी समानता।"[54]

दलित कविता अपने तमाम सरोकारों के साथ प्रतिबद्धता से खड़ी है। वह हर क्षेत्र में समान हिस्सेदारी की मांग कर रही है। इससे आने वाली दलित कविता मज़बूत होगी और दलित आंदोलन में भी पैनापन आएगा। हम उम्मीद कर सकते हैं कि आने वाली दलित कविता, दलित आंदोलन के साथ मिलकर छोटे–मोटे हिस्से नहीं, बल्कि पूरी दुनिया मांगेगी। वह तमाम उत्पीड़ितों के साथ मिलकर खड़ी होगी। अभी तक की दलित कविता का विकास यही बताता है।

3.4 दलित कविता का सौन्दर्यशास्त्र

"साहित्य, मज़दूरों के मुँह पर

मारे जा रहे थप्पड़ों के विरोध मे

स्पष्ट नज़रिए का शिल्प ही हो सकता है।"[55]

जिस कविता का उद्‌भव संघर्ष के दौरान हुआ है और जिसका विकास भी तमाम स्थापित मान्यताओं से जद्‌दोजहद करने में हो रहा है। उस कविता का सौन्दर्यशास्त्र कैसा होना चाहिए? कविता जिन लोगों के लिए लिखी जा रही है, उन्हीं के हिसाब से उसका सौन्दर्यशास्त्र तय होगा। मुख्यधारा की कविता ने जिस सौन्दर्यशास्त्र को संस्कृत और अंग्रेजी से लिया, वह उन लोगों के लिए अनुकूल था, जिसके लिए वह लिखी जा रही थी। दलित कविता यथार्थ की ज़मीन पर खड़ी है चुनांचे उसका सौन्दर्यशास्त्र भी उसी ज़मीन से विकसित हो रहा है होना भी चाहिए। बहुत पहले प्रेमचन्द्र ने सुन्दरता की कसौटी बदलने की बात कही थी। मार्क्सवादी कवियों ने एक हद तक वह कसौटी बदली भी। किन्तु दलित कविता में वह कसौटी पहले से ही एक अभिन्न हिस्सा रही है। उस कसौटी के बिना दलित कविता, दलित कविता नही हो सकती।

सौन्दर्यबोध का मनुष्य के परिवेश से बहुत गहरा रिश्ता होता है। आदमी जिस माहौल में जीता है उसी से उसकी सौन्दर्य दृष्टि बनती है। इस बारे में ओमप्रकाश' बाल्मीकि लिखते हैः "कला और साहित्य में सौन्दर्यबोध जहाँ संस्कारजन्य होता है, वहीं परिवेशगत भी। पसन्द–नापसन्द, जीवन–मूल्यों का आधार बनती हैं। दलित साहित्य सिर्फ एक साहित्यिक आंदोलन भर नहीं है। दलित समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक आकांक्षाएं साहित्य की भाषा में व्यक्त हो रही है।"[56]

जिस वर्ग को सदियों तक अमानवीयता का जीवन जीने के लिए मज़बूर किया गया। इतना ही नहीं, उसका खाना, कपड़ा, चलना–फिरना, शादी–ब्याह और नाम तक ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने पहले से तय कर दिए, जब वह वर्ग साहित्य में आएगा तो उसकी सौन्दर्य दृष्टि कैसी होगी? वह वर्ग साहित्य की परिभाषा बदलेगा, प्रचलित सौन्दर्यशास्त्र को नकारेगा और ऐसा सौन्दर्यशास्त्र विकसित करेगा जो उसके परिवेश से जुड़ा होगा। इसलिए दलित कविता चाँद को चाँद ही समझती है, रोटी नहीं। यह उन लोगों का सौन्दर्यशास्त्र है जो 'सदियों का संताप'[57] झेलते हुए भी अपने दिल में संघर्ष की 'तिनका–तिनका आग'[58] जलाए हुए हैं, जो प्रतिपक्ष से दो टूक शब्दों में कह रहे हैं कि 'बस्स! 'बहुत हो चुका'[59]

क्योंकि उन्होंने 'समय की आदमखोर धुन'[60] को पकड़ना सीख लिया है। अज्ञेय को 'कलगी बाजरे की'[61] सुंदर लगी होगी, किन्तु एक दलित कवि के लिए वह कड़वा सच है। क्योंकि 'बाजरा खेत का/खेत ठाकुर का'[62], यह अलग बात है कि उस खेत में दलितो का ही खून–पसीना लगा है चुनांचे दलित कवि को वह सुन्दर नहीं लगेगा, वह आक्रोश से भर उठेगा। दलित कविता में यह आक्रोश नकार में बदलता है और प्रतिरोध को जन्म देता है। दलित कविता के सौन्दर्यशास्त्र में इन तीनों तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान है। दलित कविता का सोन्दर्यशास्त्र उसकी संघर्ष–चेतना में विकसित हो रहा है।

बज़ाहिर दलित कविता का सौन्दर्यशास्त्र, मुख्यधारा की कविता के सौन्दर्यशास्त्र से एकदम अलग होगा। दोनों कविताओं की ज़मीन अलग है। लोग अलग हैं। सोचने–समझने का ढंग अलग है। दलित कविता जहाँ उत्पीड़ितों की कविता हैं। वहीं, मुख्यधारा की कविता खाए–पिए और अघाए लोगों की कविता है। दोनों की सौन्दर्यदृष्टि अलग तो होगी ही। बक़ौल शरणकुमार लिंबालेः "बदलती संस्कृति के साथ साहित्य भी बदलता है। यदि ये कसौटियां बदलती नहीं हैं तो साहित्य और समीक्षा दोनों का रिश्ता टूट जाएगा। भारत में आस्वाद के भिन्न–भिन्न स्तर और प्रक्रिया बहुत बड़े पैमाने पर है। एक को जो आस्वादनीय लगता है वह दूसरे को भी आस्वादनीय ही लगे, ऐसा नहीं है।"[63]

आज हिन्दी दलित साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र निर्माण की प्रक्रिया ज़ोरों पर है। इससे ब्राह्मणवादी साहित्य–संस्कृति के खेमे में खलबली मची हुई है। एक तरफ़ तो ब्राह्मणवादी साहित्यकार इसको नकार रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ इसे अश्लील, अशिष्ट और न जाने क्या–क्या कह रहे हैं। हम जानते हैं कि 'ब्लैक लिट्रेचर' ने अपना सौन्दर्यशास्त्र गढ़कर अपने विरोधियों को झूठा साबित किया था। निश्चित ही दलित कविता को भी ऐसा करना चाहिए। किन्तु दलित कवियों–साहित्कारों को इसमें जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। सौन्दर्यशास्त्र गढ़न की प्रक्रिया काफी वक्त लेती है। यदि सौन्दर्यशास्त्र, मुक्ति की कविता का सौन्दर्यशास्त्र है तो इसमें और भी समय लगता है। मैनेजर पाण्डे के अनुसारः

"कोई भी सौन्दर्यशास्त्र एक दिन में नहीं बनता। प्रतिरोध और विकल्प का सौन्दर्यशास्त्र तो और भी नहीं। वैसे तो हिन्दी में कोई विकसित सौन्दर्यशास्त्र नहीं है, लेकिन जो है उसके पीछे एक ओर संस्कृत के काव्यशास्त्र की लम्बी परम्परा है तो दूसरी ओर पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र का प्रभाव। स्वयं पश्चिम में सौन्दर्यशास्त्र का विकास कई सदियों में हुआ है। जो लोग कहते है कि सौन्दर्यशास्त्र का जाति, वर्ग और विचारधारा से क्या लेना–देना वे या तो बेवकूफ हैं या बदमाश। सौन्दर्यशास्त्र कला की अलौकिक अनुभूति का शास्त्र नहीं है। वह कलात्मक सौन्दर्य के बोध और मूल्यों का शास्त्र है, और बोध की प्रक्रिया तथा मूल्यों के निर्माण में जाति, वर्ग और लिंग से जुड़ी विचारधाराओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती

है।... इसलिए दलित सौन्दर्यशास्त्र का विकास दलित समाज, उसकी चेतना, संस्कृति विचारधारा और दलित साहित्य के विकास पर निर्भर है, जो एक लम्बी प्रक्रिया में होगा।"[64]

दलित कविता–आंदोलन, समता, स्वतंत्रत, बन्धुत्व एवं न्याय की अवधारणा पर बल देता है। ये सारे तत्व दलित सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण में सहायक हो रहे हैं दलित कवि अपनी वेदना को कविता में ढ़ाल रहे हैं और उसका दायरा बढ़ा रहे है। कवि का 'मैं' कविता में आकर 'हम' बन जाता है। इस तरह दलित कविता निजता के खिलाफ़ सामाजिकता की जीत है। यह सौन्दर्यशास्त्र का एक नया तत्व है जो पारंपरिक सौन्दर्यशास्त्र में नही मिलता। दलित सौन्दर्यशास्त्र ने पारंपरिक सौन्दर्यशास्त्र के आनन्द की जगह वेदना को एवं निजता की जगह सामाजिकता को स्थापित किया है। दलित कविता ने स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का तर्क देकर अनुभूति की प्रामाणिकता का दावा पेश किया है। कविता में आकर यह अनुभूति सामाजिक हो जाती है। यहाँ आकर दलित कविता बदलाव की चेतना की संवाहक हो जाती है। ओमप्रकाश बाल्मीकि कहते हैं:

"बहुत हो चुका

शोषण

प्रताड़ना

और उपेक्षा

बस, अब मेरा ज्वालामुखी फट पड़ेगा"[65]

कविता में आया आक्रोश, प्रत्येक दलित का आक्रोश है। कवि का 'मैं' यहाँ 'हम' में बदल गया है। यहाँ प्रतिरोध की चेतना ही सौन्दर्य का निर्माण कर रही है। दलित कविता ज़िन्दगी की कविता है। इसलिए इन कविताओं में दलित ज़िन्दगी की भाषा का इस्तेमाल हो रहा है। दलित कविता संवाद के बिना क़ायम नहीं रह सकती। इस संवाद के लिए ज़रूरत है अपनी भाषा की। दलित कवि अपनी भाषा के इस्तेमाल पर ज़ोर दे रहे हैं, फिर चाहे वह भाषा अनगढ़ ही क्यों न हो। भाषा के अनगढ़पन में ही दलित कवि खुश हैं। लेकिन एक बात देखने में आ रही है कि दलित कविता को मुख्यधारा की कविता के काउन्टर में उसी की भाषा का इस्तेमाल करना पड़ रहा है। भाषा की समस्या कैसे हल हो, यह एक बड़ा प्रश्न है। दलित कविताओं को दलितों की ही भाषा इस्तेमाल करनी चाहिए। सिद्ध–नाथ एवं कबीर–रैदास इत्यादि शूद्र व अतिशूद्र कवि जनता की भाषा में ही जनता तक पहुँचे थे। तुलसीदास जैसे ब्राह्मणवादी कवि ने भी जनता की भाषा का ही इस्तेमाल किया था। जिस तरह से दलित कविता–साहित्य में भाषा निर्माण पर ज़ोर है, उससे लगता है कि ये समस्या जल्दी हल हो जाएगी।

दलित कविता–साहित्य की भाषा पर मुख्यधारा द्वारा अश्लीलता का आरोप भी लगाया जाती है। पहली बात तो यह कि ये उस समाज की भाषा है, जिसे हमेशा गाली देकर ही पुकारा गया। अब वह समाज अपनी भाषा, संवेदना और अनुभवों के साथ साहित्य में आ रहा है तो उसे अश्लील कहा जा रहा है। यह दलित जीवन का यथार्थ है। वास्तव में दलित कविता–साहित्य इस भाषा का इस्तेमाल कर अपने सहोदरों के साथ अपने अनुभव साझा कर रहें हैं, तो वहीं दूसरी तरफ मुख्यधारा के समाज को इस कटु यथार्थ से रूबरू भी करवा रहें हैं। यह 'अक्करमाशी'[66] की भाषा है साहब, अश्लील लगे या कुछ और मगर सच है। भाषा पर लगे अश्लीलता के आरोंपों का खण्डन करते हुए ओमप्रकाश बालमीकि कहते हैं: "यातनाओं से उपजी आक्रोशित भाषा तेज औजार की तरह भीतर तक झकझोर देती है। दलित समाज की बोली–बानी के ऐसे अनेक शब्द प्रकट होते हैं, जिनसे साहित्य अनाभिज्ञ था। यह दलित साहित्य को ताजगी देता है और भाषा की जड़ता भी टूटती है।"[67]

दलित कविता अपनी भाषा के निर्माण–प्रयोग की प्रक्रिया में मुख्यधारा द्वारा स्थापित ख़ास भाषा के वर्चस्व को भी नकारती है। भाषा पर लगे अश्लीलता के आरोपों का खण्डन कंवल भारती की कविता 'तुम क्रांति नहीं करोगे' भी करती है:

"यह बताओ

बलात्कार की शिकार

तुम्हारी माँ की भाषा कैसी होगी?

कैसे होंगे

गुलामी की जिन्दगी जीने वाले

तुम्हारे बाप के विचार?

ठाकुर की हवेली में दम तोड़ती

तुम्हारी बहिन के शब्द?

क्या वे सुंदर होगें?"[68]

दलित कविता दलित जीवन के यथार्थ को उसकी भाषा में व्यक्त करने का प्रयास कर रही है। इस भाषा के ज़रिए वह नए सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण भी कर रही है। दलित कवियों ने दलित समाज के मिथकों का इस्तेमाल अपनी कविताओं में किया है। सांस्कृतिक वर्चस्व की

लड़ाई में मिथकों और प्रतीकों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति ने अनगिनत मिथक और प्रतीक गढ़कर ही अपनी सत्ता स्थापित की है। मिथक और प्रतीक जनता को बहुत जल्दी प्रभावित करते हैं। दलित कवियों ने इन मिथकों का पुनर्पाठ किया और उन्हें नए अर्थों में ढाल दिया। परंपरा से चले आ रहे 'शम्बूक वध' को दलित कवियों ने ब्राह्मणवादी अत्याचार से जोड़ दिया। इसी तरह अन्य मिथकों का भी पुनर्पाठ किया गया। मलखान सिंह की कविता 'आखिरी जंग' देखिए:

"चक्रधर!

चाहकर भी हम

नहीं चाह पाते तुझे

क्योंकि हमारे गाँव के मुखिया की शक्ल

हू–ब–हू तेरी शक्ल से मिलती है।"[69]

पारंपरिक सौन्दर्यशास्त्र के ज़रिए साहित्य में भारतीय गाँव को एक आदर्श गाँव के रूप में चित्रित किया गया। दलित कविता ने इस मिथक को तोड़ा और भारतीय गाँवों की असली तस्वीर पेश की। दलित कविता ने इस तरह नए बिम्बों–प्रतीकों एवं मिथकों के ज़रिए दलित सौन्दर्यशास्त्र के गठन को मज़बूती प्रदान की है।

दलित कविता पर अक्सर सपाटबयानी का आरोप भी लगाया जाता है। सपाट बयानी तो धूमिल और मुक्तिबोध जैसे हिन्दी के महत्वपूर्ण कवियों के यहाँ भी मिलती है। पहले ही कहा जा चुका है कि दलित कविता संवाद के बिना जीवित नहीं रह सकती। दलित कविता को जिन लोगों से संवाद करना है वे निरक्षर या कम–पढ़े लिखे लोग हैं चुनांचे दलित कविता बिना किसी लाग–लपेट की सीधी भाषा में उनसे संवाद कर रही है। ओमप्रकाश बाल्मीकि की कविता है 'कुआँ ठाकुर का', उसका यह अशं देखिए:

"कुआँ ठाकुर का

पानी ठाकुर का

खेत–खलिहान ठाकुर के

गल–मुहल्ले ठाकुर के

फिर अपना क्या?

गाँव?

शहर?

देश!"[70]

यह कविता बिना किसी लाग–लपेट के एकदम सीधी भाषा में दलित जनता से संवाद क़ायम करती है। सपाट बयानी होते हुए भी यह कविता बहुत सुंदर है और सोचने के लिए मज़बूर करती है।

इस तरह दलित कविता का सौन्दर्यशास्त्र तैयार हो रहा है। यह तो निश्चित हो चुका है कि पांरपरिक सौन्दर्यशास्त्र के सहारे दलित कविता का मूल्यांकन नहीं हो सकता। इसलिए दलित सौन्दर्यशास्त्र के गढ़न के प्रयास तेज़ हैं। दलित कविता के सौन्दर्यशास्त्र में जहाँ एक ओर आक्रोश, नकार और बदलाव की चेतना है वहीं दूसरी ओर इसमें समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व और न्याय पर आधारित समाज का स्वप्न भी है। दलित सौन्दर्यशास्त्र में दलित जीवन की बोली–भाषा और उसके अपने मिथक हैं। इसमें वर्जित बिम्बों–प्रतीकों का प्रयोग पारंपरिक सौन्दर्यशास्त्र पर सवाल खड़े करता है। भविष्य में दलित सौन्दर्यशास्त्र का जो भी ढाँचा बनेगा उसमें प्रतिरोध और विकल्प दोनों होंगे। जय प्रकाश लीलवान उद्घोष करते हैं:

"सुन्दर क्या है

सच कैसा होता है

इसे

हमें तय करना है।।"[71]

दलित कविता का सौन्दर्यशास्त्र दलित जीवन के यथार्थ व उनकी आकांक्षाओं से बनेगा। दलित मुख्यधारा के सांमतवादी सौन्दर्यशास्त्र को स्वीकार नहीं करते। उन्हें पता है कि मुख्यधारा द्वारा बार–बार दलित कविता पर सौन्दर्यशास्त्र का जो सवाल उठाया जा रहा है, यह भी एक चाल है। चुनांचे दलित कवियों को इससे सावधान रहने की ज़रूरत है। इस मुद्दे पर बहस में उलझने की बजाय वे उस सौन्दर्यशास्त्र को देखें जो दलित कविताओं में आ रहा है। दलित कविता में आ रहा यथार्थ और आकांक्षा ही दलित सौन्दर्यशास्त्र है । यह उन लोगों की कविताएं हैं। जिन्हें सूरज भी बीमार लगता है।:

"सूरज बीमार है या

यहाँ का प्रत्येक बाशिन्दा

पीलिया से ग्रस्त है"[72]

यही है दलित कविता व जीवन का सौन्दर्यशास्त्र और यह कविताओं में आ रहा है। बस इसे और उभारने की ज़रूरत है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. हरिनायारण ठाकुर–दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दूसरा संस्करण–2010, पृष्ठ संख्या–50
2. अजय कुमार– दलित पैंथर आन्दोलन, सम्पादक– एस0 एस0 गौतम, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, 2006 संस्करण, पृष्ठ–86
3. विवेक कुमार– दलित साहित्य का समाजशास्त्र (आलेख) स0– देवेन्द्र चौबे– साहित्य का नया सौन्दर्यशास्त्र, किताब महल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण–2006, पृष्ठ–156
4. कंवल भारती– दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, प्रथम संस्करण–2006, पृष्ठ–15
5. डॉ0 शरण कुमार लिंबाले–दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, अनुवाद– रमाणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010 संस्करण, पृष्ट–42
6. ओमप्रकाश बाल्मीकि– दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011 संस्करण, पृष्ठ संख्या–14
7. प्राथमिक स्रोत– युद्धरत आम आदमी (अंक 41–42) 1998 द्वितीयक स्रोत– ओमप्रकाश बाल्मीकि–दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ संख्या–13
8. प्राथमिक स्रोत–नया पथ (जुलाई–सितम्बर) 1997 द्वितीयक स्रोत– ओमप्रकाश बाल्मीकि–दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ संख्या–14
9. प्राथमिक स्रोत–हंस 1993, द्वितीयक स्रोत– ओमप्रकाश बाल्मीकि–दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ संख्या–15
10. माता प्रसाद– हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण–2008, पृष्ठ संख्या–18
11. मैनेजर पाण्डे– अनभै सांचा, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2002, पृष्ठ संख्या–274
12. धनश्याम शाह– अस्मिताओं का सहअस्तित्व (आरेख) स0– अभय कुमार दुबे–आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007 संस्करण, पृष्ठ संख्या–209

13. जातियों का राजनीतिकरण– राजनीति में जाति के नए उभार को जहाँ विद्वान जाति आधारित राजनीति के रूप में देखते हैं, वहीं प्रसिद्ध समाजशास्त्री 'रजनी कोठारी' इसे 'जातियों के राजनीतिकरण' के रूप में देखते हैं। जिसमें कोई जाति आधारित दल क्रमशः अपनी स्थिति मज़बूत करते हुए, समान लक्ष्यों वाले किसी संगठन से मिलकर सत्ता की मांग करता है। विस्तृत अध्ययन के लिए देखें– स0 अभय कुमार दुबे–राजनीति की किताब
14. ओ0 बी0 सी0 साहित्य या बहुजन साहित्य– देखें फारवर्ड प्रेस का अप्रैल 2012 अंक, बहुजन साहित्य वार्षिकी
15. ओम प्रकाश बाल्मीकि– दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पृष्ठ संख्या–14
16. कंवल भारती–दलित साहित्य की अवधारणा पृष्ठ संख्या–15–16
17. मलखान सिंह–सुनो ब्राहम्ण, बेधिसत्व प्रकाशन रामपुर, द्वितीय संस्करण 1997, पृष्ठ संख्या–48
18. मोहनदास नैमिश्राय– हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी नई दिल्ली प्रथम संस्करण–2011, पृष्ठ संख्या–27
19. ओमप्रकाश बाल्मीकि– शब्द झूठ नहीं बोलते, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या–30
20. जयप्रकाश कर्दम–गूंगा नहीं था मैं, सागर प्रकाशन दिल्ली, तृतीय संस्करण 2006, पृष्ठ संख्या–15
21. सं0– कंवल भारती– दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहासबोध प्रकाशन ईलाहाबाद, प्रथम संस्करण–जनवरी 2006, पृष्ठ संख्या– 92
22. बेर्टोल्ट बेष्ट– इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां अनुवाद–मोहन थपलियाल, परिकल्पना प्रकाशन लखनऊ, तृतीय संस्करण–2002 पृष्ठ संख्या– 76
23. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– चिन्तामणि (भाग–1), ए0 टू0 जेड0 पब्लिकेशन, इलाहाबाद, संस्करण–2001, पृष्ठ संख्या– 101
24. कविता के नए प्रतिमान–नामवर सिंह की किताब का नाम
25. कंवल भारती –दलित साहित्य की अवधारणा, बेधिसत्व प्रकाशन रामपुर, प्रथम संस्करण– 2006, पृष्ठ संख्या– 107

26. जयप्रकाश लीलवान– समय की आदमखोर धुन, अनानिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2009, पृष्ठ संख्या– 107
27. ओम प्रकाश बाल्मीकि– सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, द्वितीय संस्करण– 2008, पृष्ठ संख्या–7
28. वही, पृष्ठ संख्या– 27
29. मोहनदास नैमिशराय– ईश्वर की मौत (कविता), स0– कंवल भारती– दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहासबोध प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण– 2006, पृष्ठ संख्या– 107
30. ओम प्रकाश बाल्मीकि– शब्द झूठ नहीं बोलते, अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2012, पृष्ठ संख्या–11
31. जय प्रकाश लीलवान – समय की आदमखोर धुन, पृष्ठ संख्या– 102
32. मलखान सिंह– सुनो ब्राहम्ण, बेधिसत्व प्रकाशन रामपुर, द्वितीय संस्करण– 1997, पृष्ठ संख्या– 24
33. ओम प्रकाश बाल्मीकि– सदियों का संताप, पृष्ठ संख्या–20
34. कंवल भारती– तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?, बेधिसत्व प्रकाशन रामपुर, प्रथम संस्करण– 1996, पृष्ठ संख्या–38
35. मलखान सिंह– सुनो ब्राहम्ण, पृष्ठ संख्या–30
36. ओम प्रकाश बाल्मीकि– शब्द झूठ नहीं बोलते, पृष्ठ संख्या– 31
37. स0– माता प्रसाद– हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, सभ्यक प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण– 2008, पृष्ठ संख्या–53
38. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, संस्करण– 2008, पृष्ठ संख्या–32
39. राजेन्द्र प्रसाद सिंह–हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2009, पृष्ठ संख्या– 25

    श्री राहुल सांकृत्यायन ने 84 सिद्धों मे 68 रचनाकारों की जाति खोली है। उनमें से कोई 33 रचनाकार अवर्ण हैं। अवर्णों में भी सर्वाधिक शूद्र हैं। जिनकी संख्या 30 है। शेष 3 पिछड़ी जातियों से आए कह सकते हैं, जो मूलतः बैश्य हैं। कुर्मी, कोयरी

और यादव जैसे पिछड़े वर्गों में दबंग मानी जाने वाली किसी भी जाति की इसमें कोई भागीदारी नहीं है। शूद्रों के बाद सार्वाधिक संख्या बाहम्णों की है।

40. स0 माता प्रसाद– हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, पृष्ठ संख्या– 54
41. वही, पृष्ठ संख्या– 56
42. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या– 33
43. वही, पृष्ठ संख्या– 32

    नाथ संप्रदाय भी जब फैला, तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत–से लोग आए जा शास्त्रज्ञान संपन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था।

44. राजेन्द्र प्रसाद सिंह – हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास, पृष्ठ संख्या– 27
45. वही, पृष्ठ संख्या–64

    मध्ययुगीन हिंदी साहित्य में सर्वाधिक लंबा जीवनकाल संतकाव्य का है। सधना, वेणी, नामदेव और त्रिलोचन जैसे संतकवि जब हिन्दी साहित्य में उपस्थित थे, तब कृण्णकाव्य और रामकाव्य के सर्वाधिक तेजस्वी कवि सूरदास और तुलसीदास का जन्म नहीं हुआ था... यदि त्रिलोचन–नामदेव से संतकाव्य का आरंभ मान लिया जाए तो संतकाव्य धारा के आखिरी प्रमुख कवि धासीदास हैं। त्रिलोचन 1267 ई0 में और धासीदास 1820 ई0 में जन्मे थे।

46. स0 डॉ0 श्यामसुन्दर दास– कबीर ग्रंथावली, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ संख्या– 145
47. कंवल भारती– दलित कविता का संघर्ष, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2012, पृष्ठ संख्या– 18
48. हरिनारायण ठाकुर– दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दूसरा संस्करण– 2010, पृष्ठ संख्या– 405
49. सं0– माता प्रसाद– हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा पृष्ठ संख्या– 81
50. कंवल भारती –दलित साहित्य की अवधारणा, बोथिसत्व प्रकाशन रामपुर, प्रथम संस्करण– 2006, पृष्ठ संख्या– 51
51. स0 माता प्रसाद– हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, पृष्ठ संख्या–93

52. ओमप्रकाश बाल्मीकि– सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, द्वितीय संस्करण– 2008, पृष्ठ संख्या– 6
53. वही, पृष्ठ संख्या– 30
54. जय प्रकाश कर्दम– गूंगा नहीं था मै, सागर प्रकाशन दिल्ली, तृतीय संस्करण– 2006, पृष्ठ संख्या– 18
55. जय प्रकाश लीलवान– अब हमें ही चलना है, पृष्ठ संख्या– 71
56. ओमप्रकाश बाल्मीकि– दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृण्ण प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण–2011, पृष्ठ संख्या– 51
57. सदियों का संताप– ओमप्रकाश बाल्मीकि के कविता संग्रह का नाम।
58. तिनका तिनका आग– जयप्रकाश कर्दम के कविता संग्रह का नाम।
59. बस्स! बहुत हो चुका– ओमप्रकाश बाल्मीकि के कविता संग्रह का नाम।
60. समय की आदमखोर धुन– जयप्रकाश बाल्मीकि लीलवान के कविता संग्रह का नाम।
61. कलगी बाजरे की–
62. ओमप्रकाश बाल्मीकि– सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, द्वितीय संस्करण– 2008, पृष्ठ संख्या– 13
63. शरण कुमार लिंबाले– दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, अनुवाद– रमणिका गुप्ता, संस्करण– 2010, पृष्ठ संख्या–108
64. भूमिका मैनेजर पाण्डे, सं0 रमाणिका गुप्ता– दलित–चेतनाः सोच नवलेखन प्रकाशन बिहार, प्रथम संस्करण– 1998, पृष्ठ संख्या– x
65. ओमप्रकाश बाल्मीकि–सदियों का संताप, पृष्ठ संख्या– 18
66. अक्करमाशी– शरणकुमार लिंबोले की आत्मकथा का नाम तथा महाराष्ट्र में दलितों के लिए प्रयुक्त होने वाली एक गाली।
67. ओम प्रकाश बाल्मीकि– दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ संख्या– 82
68. कंवल भारती– तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती? बोथिसत्व प्रकाशन रामपुर, प्रथम संस्करण– 1996, पृष्ठ संख्या– 53

69. मलखान सिंह– सुनो ब्राहम्ण, बोधिसत्व प्रकाशन रामपुर, द्वितीय संस्करण– 1998, पृष्ठ संख्या– 27
70. ओमप्रकाश बाल्मीकि– सदियों का संताप, पृष्ठ संख्या–13
71. जयप्रकाश लीलवान– अब हमें ही चलना है, दलित साहित्य प्रकाशन संस्था नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2002, पृष्ठ संख्या– 44
72. सुवो मलखान सिंह– सुनो ब्राहाण– पृष्ठ– 12

अध्याय 4

दलित कविता व दलित राजनीति के अन्तःसम्बन्धों की पड़ताल

4.1 वर्ण व्यवस्था विरोधी आंदोलन और दलित कविता

वर्ण व्यवस्था का इतिहास जितना पुराना है, उतना पुराना इतिहास उसके विरोध का भी है। इसी क्रम में दलित कविता, दलित आंदोलन से जुड़ी रही है। दलित कविता का जन्म ही दलित आंदोलन के फलस्वरूप हुआ है। दोनों ही एक दूसरे को प्रेरणा एवं मज़बूती प्रदान करते रहें हैं। अभी तक के ज्ञात इतिहास में वैदिक सत्ता का सबसे पहला विरोध चार्वाकों ने किया था। उन्होंने तीनो वेदों की रचना करने वाले को पाखण्ड़ी, धूर्त और निशाचर कहा।[1] इसके बाद ब्राह्मणवाद एवं वर्ण व्यवस्था को सबसे बड़ी चुनौती बौद्ध धर्म ने दी। बौद्ध संघ के दरवाज़े सबके लिए खोल दिए गए। गौतम बुद्ध ने वर्ण जाति व्यवस्था को चुनौती देते हुए दलित मुक्ति आंदोलन की नींव ड़ाली। बौद्ध धर्म ने चारों वर्णों सहित स्त्रियों को भी बराबरी का दर्ज़ा दिया। इस तरह भारतीय इतिहास में एक ऐतिहासिक क्रांति की शुरूआत हुई। गौतम बुद्ध ने जन्मना श्रेष्ठता की अवधारणा को नकारते हुए बड़ी साफ़गोई से कहाः

"न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।

कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणो।।"[2]

अर्थात जन्म से न तो कोई वृषल (शूद्र) होता है और न ही ब्राह्मण। कर्म से ही वृषल (शूद्र) होते हैं और कर्म से ही ब्राह्मण। बौद्ध धर्म जनता तक, जनता की भाषा में ही पहुँचा।

गौतम बुद्ध ने 'विनय पिटक' में जगह–जगह वर्ण–जाति व्यवस्था की आलोचना प्रस्तुत की है। आचार्य अश्वघोष ने 'वज्रसूची उपनिषद' की रचना संस्कृत में करके ब्राह्मणवाद को कड़ी चुनौती दी। बौद्ध धर्म द्वारा शुरू की गई क्रान्ति रूकी नहीं। परिवर्तित–विकसित होती हुई यह धारा हिन्दी साहित्य के शुरूआत में सिद्धों–नाथों के रूप में मिलती है। सिद्धों–नाथों में से अधिकांश संत–कवि शूद्र व अतिशूद्र मानी जाने वाली जातियों के ही थे। वास्तव में यह हाशिए के लोगों की कविता थी, जो अपने बदले रूप में वर्ण–जाति व्यवस्था एवं ब्राहम्णवाद की मुखालफ़त कर रही थी, चुनांचे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस कविता को 'सांप्रदायिक शिक्षा' मात्र कहकर नकार देते हैं क्योंकि ये कविताएं 'शुद्ध साहित्य' की कोटि में नहीं आतीं।[3] ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति शुद्धता की इतनी आग्रही रही कि उसे कभी अपनी गंदगी का एहसास ही नहीं हुआ। दलित कविता और आंदोलन अपने शुरूआत से ही इस शुद्धतावाद के खिलाफ़ रहे। सिद्ध संप्रदाय के आचार्य कहे जाने वाले सरहपा ने ब्राह्मणवाद का विरोध करते हुए कहाः

"वर्ण अचार प्रमाणरहित अच्छर भेद अनन्त।

को पुजइ कहं पुजियई जासु आदि न अंत।"[4]

इसी तरह 'हणवन्तजी' ने अपनी सबदी में कहाः

"वेद पढ़े पढ़ि ब्रह्मा मूवा। पढ़ि गुनि भाटन गारो।

राज करन्ता राजा मूरा। रूप देषि देषि नारी।"[5]

'नाथ संप्रदाय' में प्रमुख स्थान रखने वाले गुरू गोरखनाथ ने भी जांत–पांत का ज़ोरदार खण्डन किया। उन्होंने कट्टर हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की आलोचना की। 'कुरान', 'वेद' और सन्यासियों की धार्मिक यात्राओं का विरोध करते हुए उन्होंने कहाः

"काजी–मुला कुरांणा लगाया ब्रह्म लगाया वेद।

कापड़ी सन्यासी तीरथ भ्रमाया, न पाया नृवांरणा पद का भेद।"–[6]

हिन्दुओं में 'मूर्ति पूजा' के प्रचलन पर 'गोरखनाथ' कहते हैः

"सरजीव तोडिला निरजीव पूजिला।

पापची करणी कैसे दूतर तिरीला।"[7]

सिद्धों–नाथों ने वर्ण–जाति व्यवस्था और सांप्रदायिकता पर प्रहार किया। ये तेवर उन्हें बौद्ध धर्म से मिले थे। यह हाशिए का साहित्य था जो अधिकांश हाशिए के लोगों द्वारा उन्हीं की भाषा में लिखा जा रहा था। दलित कविता और आंदोलन की सबसे बड़ी ख़ासियत यह है कि वह शुरू से ही जनता की भाषा में बात करता है। जनता की भाषा के बिना वह जीवित ही नहीं रह सकता। इसका एक कारण यह है कि दलित कविता करने वाले अधिकांश कवि उसी समाज से सम्बन्धित भी हैं। इसलिए उसका विरोध तो होना ही था। ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति ने शूद्र व अतिशूद्र कवियों की जाति को लेकर समाज–साहित्य में बहुत से भ्रम फैलाए। शूद्र व अतिशूद्र कवियों को, जोकि अपनी भाषा में कविता द्वारा वर्ण–जाति व्यवस्था की मुखालफ़त कर रहे थे, कहीं न कहीं इन्हें ब्राह्मण वर्ग से जोड़ने की साज़िश की गई। सिद्धों–नाथों की कविताओं को अश्लील और 'सांप्रदायिक शिक्षा' कहकर नकार दिया गया। असलियत में यह दलित जनता का आंदोलन था जो धार्मिक जामे में वर्ण–जाति व्यवस्था की खिलाफ़त कर रहा था। इस वर्ण व्यवस्था विरोधी आंदोलन और कविता का विकास आगे चलकर कबीर–रैदास इत्यादि शूद्र व अतिशूद्र कवियों की कविताओं में होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल व अन्य ब्राह्मणवादी इतिहासकारों ने बड़ी चालाकी से सिद्धों–नाथों की कविता को सांप्रदायिक एवं अश्लील कहकर उनके

आंदोलन–कविता को नकार दिया, साथ ही भक्ति आंदोलन के दक्षिण भारत में शुरू होने का तथ्य गढ़ दिया। सचाई यह है कि सिद्ध–नाथ बौद्ध थे। वे दलितों के बीच जागृति ला रहे थे। उन्होंने दलितों एवं स्त्रियों के लिए बहुत कुछ किया। वे सीधी–सादी भाषा में वर्ण–जाति व्यवस्था का खुला विरोध कर रहे थे। इसलिए ब्राहम्णवादी सत्ता–संस्कृति ने उसे नकार कर पूरा आंदोलन अपने पक्ष में कर लिया। इस साज़िश का खुलासा करते हुए हरिनारायण ठाकुर लिखते हैं:

"सच तो यह है कि जिस भक्ति साहित्य को शुक्ल जी ने धार्मिक और साम्प्रदायिक साहित्य कहकर खारिज कर दिया, वह पूरा का पूरा उत्तर भारत में ही पैदा हुआ और उसी से विशाल सन्त साहित्य और निर्गुण पन्थ निकला। ये निर्गुणवादी सन्त कहीं से भी नास्तिक या भक्तिहीन नहीं थे। फिर क्या कारण है कि भक्ति के मूल की खोज उत्तर भारत में नहीं की गयी। कारण स्पष्ट है कि उत्तर भारत की पूर्ववर्ती सिद्ध–नाथ आदि की परम्परा बौद्धवादी परम्परा थी। बौद्ध साधना से ही उनकी भक्ति निकली थी। किन्तु भक्ति आन्दोलन के मूल में इसके विरोधी ब्राह्मण या सनातन धर्म की चेतना काम कर रही थी। इसलिए ब्राहम्णवादी मानसिकता ने इस विशाल आन्दोलन को अपने पक्ष में भुना लिया।"[8]

फिर भी सिद्धों–नाथों के आंदोलन एवं कविता का विकास रूका नहीं। महाराष्ट्र में यह 'वारकरी' सम्प्रदाय के रूप में फैला। आगे चलकर यही आंदोलन और कविता निगुर्ण पन्थ के रूप में विकसित हुइ। कबीर पहले ऐसे शूद्र कवि हुए जिन्होंने सीधे–सीधे ब्राह्मणवाद को चुनौती दी। उन्होंने एकदम साफ़गोई से कहा:

"पंडित बाद बदंते झूठा"[9]

कबीर ने अस्पृश्यता को लेकर ब्राह्मणों से सीधे सवाल किया।

"काहे कौ कीजै पाँडे छोति बिचारा।

छोतिहीं तै अपना सब संसारा।।

हमारे कैसे लोहू तुम्हारै कैसे दूध।

तुम कैसे बाँह्मण पाँडे हम कैसे सूद।।"[10]

यह सवाल तर्कपूर्ण एवं तिलमिला देने वाले थे। कबीर इत्यादि शूद्र व अतिशूद्र कवि अपनी कविता के जरिए ब्राह्मणवादी व्यवस्था से ऐसे ही सवाल पूछ रहे थे। ये संत–कवि एक ओर जातिवाद की कड़ी आलोचना प्रस्तुत कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर अपनी पहचान के साथ कविता कर रहे थे। ऐसा पहली बार हुआ था। इस समय की कविता वर्ण व्यवस्था विरोधी होने के साथ ही स्वत्व की पहचान की भी कविता है। कबीर साफ़–साफ़ कहते हैं

'नाम कबीर जाति जुलाहा' वहीं रैदास भी कहते हैं– 'कह रैदास खलास चमारा'। इससे शूद्र व अतिशूद्र जातियों में एक नई चेतना का संचार हो रहा था। ये संत अपनी पहचान और अपने पेशे के साथ आए थे। ये सब गृहस्थ थे चुनांचे शूद्र व अतिशूद्र जनता के अधिक निकट होते चले गए। रैदास ने जन्म आधारित ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता पर प्रहार करते हुए कहाः

"रविदास जन्म के कारने होत न कोऊ नीच।

नर कूं नीच करि डरि है, ओढ़े करम की कीच।।"[11]

'कबीर' ने भी सवाल कियाः

"जे तूँ बाँभन बभनी जाया, तो आँन वाँट है न आया।

जे तूँ तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतनाँ क्यूँ न कराया।।"[12]

रैदास ने 'मनु स्मृति' की व्यवस्था को उलटते हुए कर्म के आधार पर उँच–नीच की अवधारणा पेश करते हैं। कबीर–रैदास के अतिरिक्त दादूदयाल, पलटू साहेब गुरू नानक देव इत्यादि संतो ने वर्ण–जाति व्यवस्था के विरोध में कविताअें के जरिए मोर्चा खोला। निर्गुण पंथ के शूद्र व अतिशूद्र कवियों ने वर्ण–जाति व्यवस्था के साथ ही सांप्रदायिकता का भी तीव्र विरोध किया। इन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से दलितों में जागृति लाने की कोशिश की।

इस दौर की दलित कविता, कविता न होकर वर्ण व्यवस्था के खिलाफ़ एक आंदोलन थी। इस आंदोलन की धार को कुंद करने के लिए ब्राह्मणवादी इतिहासकारों ने इनकी कविताओं को विकृत करके पेश किया। मध्यकाल में ये संत ब्राह्मणवादी वर्ण–जाति व्यवस्था से सीधे टक्कर ले रहे थे। इस समय की कविताओं में जो विरोध का स्वर देखने को मिलता है, वह आज की दलित कविता में अमूमन नहीं मिलता। इन शूद्र कवियों की कविताओं में मुक्ति की एक छटपटाहट दिखाई देती है। ये संत श्रम को महत्व देने वाले थे। इन्होंने तपस्या करके ज्ञान प्राप्त नहीं किया था। ये जनता के कवि थे और उसी के बीच से आए थे। इसलिए इन कवियों ने कभी अपना पेशा नहीं छोड़ा। वे गृहस्थ जीवन जीते हुए, अपना काम करते हुए कविता कर रहे थे। इन गृहस्थ शूद्र व अतिशूद्र कवियों के बारे मे हजारीप्रसाद द्विवेदी की मानसिकता देखिएः 'उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिन्दुओं में वैरागी साधुओं की एक विशाल वाहिनी खड़ी हो गई, क्योंकि जाति के कठोर शिंकजे से निकल भागने का एकमात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था"[13]

पहली बात यह कि ये शूद्र व अतिशूद्र कवि उन अर्थों में हिन्दू नहीं थे। जातिवाद से बचकर भागने की बज़ाय इन कवियों ने हमेशा उसकी मुखालफ़त की। जैसा कि हमने देखा दलित कविता का जन्म ही वर्ण–जाति व्यवस्था की विरोध में हुआ। इसलिए शूद्र व अतिशूद्र कवियों के डरकर भागने का सवाल ही नहीं उठता। दूसरी बात यह कि इन शूद्र व अतिशूद्र कवियों में कोई भी हजारीप्रसाद द्विवेदी के अर्थों में साधु नही था। ये संत–कवि गृहस्थ थे। अपनी रोज़ी खुद कमाते थे। शूद्र कवियों ने हमेशा श्रम को महत्ता दी। रैदास श्रम को महत्व देते हुए कहते हैं:

"धरम करम जानै नहीं मन मह जाति अभिमान।

ये सोउ ब्राहाण सो भलो रविदास श्रभिकहु जान।।"[14]

ये शूद्र व अति संत डंके की चोट पर खुद को 'जुलाहा' और 'चमार' कहते हैं। इस तरह ' हजारीप्रसाद द्विवेदी जानबूझकर वर्ण–जाति व्यवस्था के खिलाफ खड़े हुए आंदोलन और उसकी कविता के बागी तेवर की अनदेखी कर जाते हैं। इन संतों के आंदोलन और कविता का विरोध तत्कालीन ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति ने संगुण पंथ के रूप में किया। मुक्तिबोध अपने लेख में यही दिखाते है।[15] मुक्तिबोध के इस विचार को आगे बढ़ाया जाना चाहिए था मगर ब्राह्मणवादी साहित्यकारों–इतिहासकारों की बात छोड़िए, किसी मार्क्सवादी ने भी इसकी नोटिस नहीं ली। आज भी हिन्दी साहित्य में तुलसीदास पूज्य बने हुए हैं।

साहित्य के इतिहासकारों ने सबसे बड़ी गड़बड़ यह की कि, एक तरफ तो उन्होंने शूद्र व अतिशूद्र संतों–कवियों की कविताओं में विद्यमान वर्ण–जाति विरोध के तत्वों की अनदेखी की। जबकि इन तत्वों का उनकी कविताओं में प्रमुख स्थान था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जिसे 'हताश जाति[16] का साहित्य कह रहे थे कबीर–रैदास इत्यादि संत–कवि उस कोटि में नहीं आते। हजारीप्रसाद द्विवेदी जिसे भारतीय चिंता का स्वभाविक विकास'[17] कहते हैं, ये शूद्र कवि सीधे–सीधे उसक प्रतिरोध करते हैं। पहली बात तो यह कि हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास की यह व्यवस्था ही गलत प्रतीत होती है। कोई भी विकास अनवरत नहीं होता। उसमें उतार–चढ़ाव आते हैं। द्विवेदी ने अपनी यह थीसिस ग्रियर्सन के मत कि भक्ति आंदोलन 'बिजली की चमक के समान'[18] फैला और आचार्य शुक्ल के मत की यह 'हताश जाति' का साहित्य है, के विरूद्ध गढ़ी। दरअसल डॉ0 ग्रियर्सन ने जिस भक्ति आंदोलन को अचानक बिजली की तरह फैला हुआ बताया, उसको आचार्य शुक्ल ने विस्तार देते हुए बड़ी चालाकी से सगुण भक्ति से जोड़ा और उसे द0 भारत से उत्पन्न हुआ बताया। जबकि यह आंदोलन शूद्र व अतिशूद्र संतों का था, जो भक्ति के जामे में वर्ण–जाति व्यवस्था की खिलाफ़त कर रहे थे।

आचार्य शुक्ल से एक चूक यह हुई कि उन्होंने भक्ति आंदोलन को द0 भारत से जोड़ने के क्रम में उसका चरित्र मुस्लिम विरोधी बना दिया तथा हिन्दुओं को हताश जाति कह दिया। हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल' के मुकाबले ज्यादा चालाकी बरतते हैं। वे भक्ति आंदोलन' को 'भारतीय चिंता का स्वभाविक विकास' कहते हुए उसे उत्तर भारत से ही जोड़ते हैं और कहते हैंः "ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ लेकिन ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"[19] हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसा क्यों कहते हैं? साफ़ है कि वे इस आंदोलन को प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न न मानकर इसे स्वभाविक विकास मानते हैं। 'भारतीय चिंता का स्वभाविक विकास', यह भारतीय चिंता अपनी खास संरचना में प्रारंभ से ही ब्राह्मणवादी रही है। हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्ति आंदोलन को इसी ब्राह्मणवादी चिंता का स्वभाविक विकास साबित करना चाहते हैं ताकि यह सत्य दबा रह जाए कि मूलतः भक्ति आंदोलन शूद्रों व अतिशूद्रों का आंदोलन था जो कि अपने मूल चरित्र में वर्ण–जति विरोधी था और सगुण मत का उद्भव उसके विरोध में हुआ। अब जरा उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन के उद्भव में द्विवेदी का मत देखिएः "यहाँ भी साधारण जनता के भीतर जो धर्म–भावना विद्यमान थी, उसने शास्त्र की अंगुली पकड़कर अपने को शक्तिशाली रूप में प्रकट किया"[20]

हजारीप्रसाद द्विवेदी यहाँ सगुण मत की ही बात कर रहे हैं। वे बौद्ध परंपरा में आए सिद्ध–नाथ' एवं कबीर–रैदास इत्यादि शूद्र व अतिशूद्र संतों को नज़रअदांज़ कर देते हैं। ये शूद्र व अतिशूद्र संत शास्त्र विरोधी थे। इन्होंने खुलेआम शास्त्रों की निंदा की। इस तरह हम देखते हैं कि वर्ण व्यवस्था विरोधी आंदोलन की शुरूआत, वर्ण व्यवस्था की स्थापना के साथ ही हो जाती है। इस तरह आंदोलन और कविता साथ–साथ चलते रहे।

सिद्धों–नाथों से होते हुए यह आंदोलन मध्यकाल में व्यापक रूप ले लेता है। इस काल में दलित कविता खुद आंदोलन रही है। उसने वर्ण–जाति व्यवस्था की कठोर शब्दों में आलोचना की। इस आंदोलन के विरोध में सगुण मत इसकी मूल जाति–विरोधी चेतना को विकृत कर देता है। बाद के ब्राह्मणवादी इतिहासकार भी इस आंदोलन की मूल चेतना को नकारकर उसे ब्राह्मणवादी चौखटे में फिट कर देते हैं।

आज दलित साहित्य अपने इतिहास निर्माण के क्रम में उन तथ्यों की तह में जाकर उसकी पड़ताल करता है तो हम पाते हैं कि इस दौर की कविता सीधे–सीधे वर्ण व्यवस्था से टक्कर लेती है। उसके पीछे दलित आंदोलन के संघर्ष की एक लम्बी परम्परा है। बाम्हणवादी सत्ता–संस्कृति ने इस वर्ण व्यवस्था विरोधी आंदोलन को दबाने के लिए सगुण मत की शुरूआत की। हम यह भी पाते हैं कि ब्राह्मणवादी इतिहासकारों ने बड़ी चालाकी से वर्ण व्यवस्था विरोधी आंदोलन और कविता को विकृत करके पेश किया तथा उसे सगुण

मत से जोड़ दिया। दलित साहित्य अब यह मांग करता है कि हिन्दी साहित्य पर पुनर्विचार किया जाए और उसका इतिहास फिर से लिखा जाए। सबसे पहले साहित्य पर बहस की ज़रूरत है। आचार्य शुक्ल जिसे 'वीरगाथा काल' (उसकी प्रमुख प्रवृत्ति के कारण) कहते हैं, उसके अधिकांश ग्रंथ जाली हैं। वीरगाथातमक काव्य पर बहस होनी चाहिए। क्या ये साहित्य है? क्या राजा–रानी की कहानियां साहित्य है। क्या यही जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब है? इस मुद्दे पर बात होनी चाहिए।

दरअसल हमारे सामने उपलब्ध साहित्य है लेकिन हमें अनुपलब्ध साहित्य भी खोजना होगा। वह कहाँ गया? आचार्य शुक्ल के अनुसार 'कबीर का पंथ चल निकला', 'दादू पंथ' के नाम से भी पंथ बना, धर्मदास ने 16 वीं शताब्दी में गलता में गद्दी स्थापित की, जगजीवन दास 1818 ई0 के लगभग विद्यमान थे, उनके भी अनेक शिष्य हुए, 1820 ई0 में घासीदास विद्यमान थे, इन सब का साहित्य कहाँ गया? इतिहास मे दो धाराएं विद्यमान रही हैं। साहित्य के इतिहास में अभी तक एक ही धारा पर विचार किया गया है। दूसरी धारा का साहित्य उसमें से ग़ायब है। साहित्य के इतिहासकार अपने भण्डार ग्रह से अपनी सहुलियत के हिसाब से ज़रूरी चीजों को निकालते रहे और बाकी पर ध्यान नहीं दिया। अब समय आ गया है कि अनुपलब्ध साहित्य को खोजा जाए और नए तरीके से हिन्दी साहित्य पर बहस की जाए। दलित साहित्य अपने तरीके से यह काम कर रहा है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह कहते हैं: "समाज पर काबिज लोग इतिहास से छेड़छाड़ किया करते हैं। वर्षों बाद जनता इतिहास की दिशा और दशा तय करती है। कबीर लंबे समय से इतिहास में दफन थे। आज वे तुलसीदास से भी बड़े कवि हैं। वह दिन दूर नहीं जब ऐसे और भी रचनाकार इतिहास के पन्नों पर समय के साथ–साथ आएँगे, और जो कई हथकंडों के सहारे इतिहास–पुरूष बन बैठे हैं, वे इतिहास से बाहर होगें।"[21]

इस तरह हमने देखा कि अभी तक के ज्ञात इतिहास में वर्ण व्यवस्था के विरोध की शुरूआत चार्वाकों, से होती है। बौद्ध आंदोलन से विकसित–परिवर्तित होते हुए यह परंपरा हिन्दी साहित्य में सिद्धों–नाथों के रूप में मिलती है। इस परंपरा में वर्ण व्यवस्था विरोधी आंदोलन और दलित कविता आगे चलकर कबीर–रैदास इत्यादि शूद्र व अतिशूद्र कवियों के यहाँ एक बड़े आंदोलन का रूप ले लेती है। इस क्रम में दलित कविता का वर्ण–व्यवस्था विरोधी आंदोलन से गहरा जुड़ाव रहा है। भविष्य का दलित आंदोलन और कविता इससे किस तरह प्रेरणा लेकर आगे बढ़ते हैं, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। ये संत व इनका आंदोलन व्यापक अर्थों में दलित साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता क्योंकि दलित शब्द बहुत बाद में प्रचलन में आया। इन संतो के साहित्य की कुछ सीमाएं हैं। हमें इन्हें उन सीमाओं के अन्तर्गत ही देखना चाहिए। हालांकि इन संतों के पास कोई विकल्प नहीं था और ये ईश्वर के इर्द–गिर्द ही चक्कर काटते रहे, फिर भी इन संतो का साहित्य, एक आंदोलन था जो आगे के लिए रास्ता बनाता है। आज के दलित साहित्य की परंपरा में इनके साहित्य

पूर्ण स्थान है जिसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। इसलिए संतों की इस परंपरा को दलित आईने में ही रखा गया है।

4.2 दूसरा भागीदारी की राजनीति और दलित कविता

19वीं शताब्दी को भारत में 'नवजागरण' के लिए जाना जाता है। इस तथाकथित 'नवजागरण' का उद्भव बंगाल से माना जाता है तथा इसके जनक के रूप में राजा राममोहन राय तमाम 'सुधार आंदोलनों' की शुरूआत होती है। 'ब्रह्म समाज', 'आर्य समाज' इत्यादि 'सुधार आंदोलन, बंगाल की भूमि से शुरू होते हैं। इन सुधार आंदोलनों की सीमाएं हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। ये तमाम आंदोलन अन्ततः हिन्दुत्व में विलीन हो गए। इन आंदोलनों का लक्ष्य सुधार था और किसी भी आमूलचूल परिवर्तन के पक्ष में ये आंदोलन कभी नहीं रहे। इसके विपरीत महाराष्ट्र में ज्योतिबा फूले के नेतृत्व में शुरू हुआ आंदोलन क्रांतिकारी था। जहाँ पहले का लक्ष्य उच्च हिन्दू वर्ग था, वहीं ज्योतिबा फूले जो शूद्र थे, ने वर्ण–जाति व्यवस्था पर निशाना साधा।

ज्योतिबा फूले और उनकी संगिनी सावित्री बाई फूले' ने पहली बार शूद्रों एवं स्त्रियों के लिए स्कूल खोले। निश्चित रूप से इसमें ब्रिटिश शासन का अप्रत्यक्ष योगदान था। ज्योतिबा फूले ने इसके लिए 'गुलामगिरी' में ब्रिटिश राज को धन्यवाद भी दिया। लेकिन इसका यह मतलब कतई नहीं कि ब्रिटिश सरकार दलितों के लिए चिंतित थी। दरअसल विकास की गति विज्ञान होता है कि एक निश्चित स्तर पर वह सभी वर्गों को फायदा पहुंचाता है। इसमें सत्ता कुछ नहीं कर सकती। इसी तर्ज़ पर ब्रिटिश सरकार के कुछ कदम दलितों के लिए फायदेमंद हो गए। ज्योतिबा फूले ने 1873 ई0 में सत्य शोधक समाज की स्थापना की। इसी वर्ष उनकी ऐतिहासिक पुस्तक 'गुलामगिरी प्रकाशित हुई। ज्योतिबा फूले की दूर दृष्टि का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने इस पुस्तक को अमेरिका के ब्लैक आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाने वाले लोगों को समर्पित किया है।

'सत्यशोधक समाज' की स्थापना के ठीक दो साल बाद दयानंद सरस्वती ने 1875 ई0 में आर्य समाज की स्थापना की। रानाड़े का 'प्रार्थना समाज' पहले ही अस्तित्व में आ चुका था। इससे साफ पता चलता है कि ये आंदोलन ज्योतिबा फूले के आंदोलन की प्रतिक्रांति में शुरू हुए थे। आखिर क्यों ऐतिहासिक पूना पैक्ट के ठीक 6 दिन बाद हरिजन सेवक संघ' की स्थापना होती है, क्यों शूद्र व अतिशूद्र कवियों–संतो के निर्गुण आंदोलन के ज़ोर पकड़ते ही सगुण आंदोलन की शुरूआत होती है? मतलब साफ़ है कि ये तमाम गतिविधियां प्रतिक्रांति स्वरूप हो रही थी। इस बारे में दलित चिंतक कंवल भारती कहते हैं:

"क्या यह सवाल नहीं होता है कि दयानंद गुलामगिरी जैसी पुस्तक की रचना क्यों नहीं कर सके? रानाडे प्रार्थना समाज को भंग करके सत्य शोधक समाज में क्यों नहीं शामिल हो गए? अछूतों और भारतीय स्त्रियों के लिए स्कूल खोलने की पहल किसी ब्राह्मण ने क्यों नहीं की? क्यों महात्मा फूले को ही उनकी शिक्षा और मुक्ति की आवयश्कता अनुभव हुई?... उत्तर बहुत आसान है। महात्मा फूले भोक्ता थे, इसलिए सृष्टा भी थे, किंतु ब्राह्मण भोक्ता

नहीं थे, वे भेदभावों के जनक थे। उनका समानता में विश्वास नहीं था। वे कैसे दलितों की मुक्ति के पक्षधर हो सकते थे?"[22]

समाज सुधार आंदोलनों के चरित्र एवं उनकी परिणति देखते हुए कंवल भारती का सवाल और उसका जवाब एकदम वाजिब है। आखिर डॉ0 आम्बेडकर ने भी सवाल उठाया था कि ब्राह्मण समाज में क्यों एक भी वाल्टेयर पैदा नहीं हुआ? वीर भारत तलवार, आर्य समाज की विचारधारा के बारे में कहते हैं: "इस विचारधारा में इतिहास के प्रति पुनरूत्थानवादी और और धर्म के प्रति शुद्धतावादी रवैया, वेदों के प्रति अताक्रिक दृष्टिकोण, दूसरे धर्मों के प्रति हमलावर रूख और ब्राह्मणवाद की आलोचना करते हुए भी उसके प्रति आदर की नरम प्रवृत्ति थी। इस आखिरी प्रवृत्ति के कारण ही दयानंद ने विधवा विवाह को पूरी तरह से मान्यता नहीं दी, वर्णव्यवस्था को हर तरह से खारिज नहीं किया और जाति प्रथा से लड़ने का कोई व्यवहारिक कार्यक्रम नहीं दिया। इसी वजह से उन्होंने हवन और यज्ञ का धर्म से कोई लेना–देना न मानने पर भी इन्हें खारिज नहीं किया बल्कि वायु को शुद्ध करने आदि के नाम पर इन्हें बनाए रखा।"[23]

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दू समाज यदि इतिहास है तो वर्ण–जाति व्यवस्था उसका भूगोल। इतिहास (हिन्दू समाज) अपने भूगोल (वर्ण–जाति व्यवस्था) को कभी नहीं छोड़ना चाहता चुनांचे तमाम समाज सुधार आंदोलन जो कि उच्चवर्णीय हिन्दुओं द्वारा चलाए जा रहे थे केवल पारिवारिक सुधारों तक सीमित रह गए। जहाँ जरूरत पेड़ की जड़ को ठीक करने की थी, वहाँ उच्चवर्णीय हिन्दू समाज सुधारक उसकी शाखाओं मे कतर–ब्योंत कर रहे थे। इसके मुकाबले ज्योतिबा फूले ने हमेशा समस्या की जड़ पर ध्यान दिया। वास्तव में फूले नवजागरण के अग्रदूत थे न कि राममोहन राय। ब्राह्मणवादी इतिहासकारों ने ज्योतिबा फूले के आंदोलन को नज़रअंदांज़ कर राममोहन राय को नवजागरण का अग्रदूत बना दिया। जो साज़िश भक्ति आंदोलन के साथ की गई वही आधुनिक काल में भी, यही नहीं यह साज़िश डॉ0 आम्बेडकर के साथ भी की गई। ब्राह्मणवादी इतिहासकार महात्मा गांधी और उनके हरिजन आंदोलन को डॉ. आम्बेडकर के आंदोलन के मुकाबले बढ़ा–चढ़ाकर पेश करते हैं।

ज्योतिबा फूले का आंदोलन पूर्व के दलित मुक्ति आंदोलनों का विकास था। ज्योतिबा फूले के समय में केरल में नारायण गुरू वर्ण जाति व्यवस्था के विरूद्ध आंदोलन चला रहे थे। नारायण गुरू ने दलितों के लिए अलग से मन्दिरों की स्थाप्ना की। तत्कालीन समय में यह प्रतीकात्मक विद्रोह ब्राह्मणवाद के लिए एक बड़ी चुनौती था। उनके आंदोलन से प्रेरित होकर कई रचनाकारों ने रचनाएं की। उनमें करूप्पन और कुमार आशान प्रमुख रचनाकार थे। इस प्रकार नारायण गुरू के आंदोलन ने वहां के साहित्य को एक नई दिशा एवं गति प्रदान की। दक्षिण भारत में दलित आंदोलन को एक नई उर्जा देने में पेरियार रामा स्वामी

नायकर' का बहुत योगदान है। पेरियार ईश्वर व धर्मशास्त्रों में यकीन नहीं करते थे। उन्होंने रामायण का अध्ययन कर 'रामायना अ ट्रू रीडिंग' (सच्ची रामायण) लिखकर ब्राह्मणवाद को कड़ी चुनौती दी। सच्ची रामायण पढ़कर बहुत से दलित जो हिन्दू धर्म में विश्वास करते थे, ब्राह्मणवाद छल से परिचित हो सके। पेरियार ने दलितों–पिछड़ों व स्त्रियों की शिक्षा के लिए जबरदस्त आवाज उठाई। पहले वे कांग्रेस में थे किन्तु कांग्रेसी नेताओं की ब्राह्मणवादी मानसिकता से आजिज आकर 1925 ई0 में उन्होंने जिस्टस पार्टी की सदस्यता लेली। अन्ततः 1944 ई0 में पेरियार ने द्रविड़ कड़गम की स्थापना की।

लगभग इसी समय में बंगाल में चांद गुरू, मध्य प्रदेश में गुरू धासीदास और उत्तर प्रदेश में स्वामी अछूतानन्द हरिहर इत्यादि अपने–अपने स्तर पर वर्ण–जाति व्यवस्था के खिलाफ आंदोलन चला रहे थे। जिस समय ज्योतिबा फूले का निधन होता है, उसी के बाद डॉ0 आम्बेडकर का जन्म भी होता है। धीरे–धीरे डॉ0 आम्बेडकर का आंदोलन जोर पकड़ता गया। 1920 ई0 के बाद से ही डॉ0 आम्बेडकर राष्ट्रीय परिदृश्य पर नज़र आने लगते है। ज्योतिबा फूले महाराष्ट्र में पहले ही सशक्त आंदोलन की नींव डाल चुके थे। डॉ. अम्बेडकर ने उस आंदोलन को नई दिशा दी। उन्होंने दलित मुक्ति आंदोलन को राजनीतिक आंदोलन में बदल दिया और दलितों के लिए सत्ता की मांग की। इतिहास में पहली मर्तबा डॉ. आम्बेडकर ने अछूतों के सवाल को राजनीतिक सवाल में बदल दिया। 1927 ई0 में सार्वजनिक तालाब से पानी लेने की मांग से, मन्दिर सत्याग्रह तक होते हुए डॉ0 आम्बेडकर का आंदोलन गोलमेज परिषद में अछूतों के लिए विशेष राजनीतिक अधिकारों की मांग तक जा पहुँचा।

कांग्रेस एवं महात्मा गांधी के अड़ियल रूख के चलते यह मांग पूरी नहीं हो सकी और 1932 ई0 में ऐतिहासिक पूना पैक्ट हुआ। पूरे देश में इस निर्णय की अलग–अलग ढंग से प्रतिक्रिया हुई। हिन्दी पट्टी में डॉ. आम्बेडकर का आन्दोलन जरा देर से पहुंचा। इसके मुकाबले आर्य समाज के आंदोलन का असर यहां के कई क्षेत्रों में पहुंच चुका था। आधुनिक हिन्दी दलित कविता के रूप में हीरा डोम की कविता अछूत की शिकायत मिलती है। यह कविता 1914 ई. सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसके अलावा हीरा डोम की अन्य कोई रचना नहीं मिलती और स्वयं हीरा डोम के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। हीरा डोम इस कविता में दलितों के सामाजिक तथा आर्थिक शोषण का ज़िक्र करते हैं। यहाँ ईश्वर की सत्ता पर भी सवाल खड़ा किया गया है:

"कहवां सूतल बाटे सुनत न वारे अब,

डोम जानि हमनी के छुए से डेरइले।।

हमनी के राति–दिन मेहनत करीले जां,

दुइगो रूपयवा दरमहा में पाइबि।

ठकुरे के सुख सेत घर में सुतल बानी,

हमनी के जोति जाति खेतिया कमाइबि।"[24]

जहां एक तरफ हीरा डोम ईश्वर से सवाल कर रहें हैं, वहीं दूसरी तरफ दलितों के आर्थिक शोषण का खाका भी पेश कर रहे हैं।

इस कविता का अंश देखकर यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि हीरा डोम की यह एक मात्र रचना नहीं होगी? इसी समय उत्तर प्रदेश में स्वामी अछूतानन्द हरिहर भी सक्रिय थे। उन्होंने आदि हिन्दू आंदोलन छेड़ रखा था, जिसके तहत वे दलितों को धर्मांतरण से रोक रहे थे। शुरूआती दौर में स्वामी अछूतानन्द हरिहर पर आर्य समाज आंदोलन का प्रभाव था। बाद में डॉ0 आम्बेडकर के आंदोलन से परिचित होने पर उनमें परिवर्तन आया। स्वामी जी आंदोलनकर्ता के साथ–साथ अच्छे कवि नाटककार तथा जागरूक पत्रकार भी थे। 1925 ई0 में स्वामी जी ने आदि हिन्दू पाक्षिक और 1929 ई0 में अछूत मासिक पत्र का प्रकाशन तथा सम्पादन किया। इस तरह स्वामी जी दलित पत्रकारिता की शुरूआत करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। रामराज्य नाटक, मायानन्द बलिदान, आदिवंश का डंका, और आदिखण्ड काव्य इत्यादि इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। प्राप्त तथ्यों के आधार पर स्वामी अछूतानन्द हरिहर हीरा डोम से भी पहले के रचनाकार साबित होत हैं। स्वामी जी अपनी कविताओं में जातिवाद की आलोचना करते हैं। वर्ण जाति व्यवस्था को मज़बूत करने वाली मनुस्मृति की आलोचना करते हुए स्वामी जी कहते हैं:

"निशादिन मनुस्मृति ये, हमको जला रही है,

उपर न उठने देती, नीचे गिरा रही है।"[25]

अछूतों को जगाते हुए स्वामी जी आह्वान करते है:

"चाहो उठना अगर तो उठो हो निडर

समझो धड़ पर हमारे है सर ही नहीं।।

अब नहीं वह रहा वक्त ऐ भाइयों,

जो मनु ने थी छाड़ी कसर ही नहीं।।"[26]

इस तरह स्वामी अछूतानन्द हरिहर वर्ण–जाति व्यवस्था तथा उसे मज़बूत करने वाले मनु की आलोचना करते हैं। उनकी भाषा इतनी सादी है कि पाठकों को आसानी से समझ में आ जाती है। वे दलितों को उठनें का आह्वान करते हैं। उन्हें उनका अतीत याद दिलाते

हैं। हीरा डोम भी जब दलितों की पीड़ा का वर्णन करते हैं तो ईश्वर के प्रति उनका सम्बोधन देखने लायक होता है।

स्वामी अछूतानन्द हरिहर से प्रेरित होकर बहुत से दलित कवि कविताएं लिखने लगे। किन्तु इनमें से अधिकांश कवि डॉ0 आम्बेडकर के आंदोलन से अपरिचित दिखाई देते हैं। आर्य समाज के आंदोलन का इन कवियों पर गहरा प्रभाव था। वास्तव में इस समय तक हिन्दी पट्टी लगभग डॉ0 आम्बेडकर से अपरिचित ही थी। डॉ0 प0 मौजीलाल आर्य ने 1956 ई0 में स्वामी अछूतानन्द हरिहर का जीवन चरित लोक कविता की शैली में लिखकर प्रकाशित कराया। रामायण की तर्ज़ पर उन्होंने भीमायण लिखी, जो 1950 ई0 में प्रकाशित हुई। स्वामी शंकरानन्द एवं स्वामी अयोध्यानाथ, दोनों ही आर्य समाजी थे। प्रकारान्तर में ये दोनों कवि वर्ण व्यवस्था के समर्थक दिखाई देते है। 1954 ई0 में शंकरानन्द की पुस्तक शंकरानन्द भजनावाली' प्रकाशित हुई। इन कविताओं में वे दलितों को ईश्वर की आराधना की ओर मोड़ते हैं। वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हुए ये कवि कहते हैं:

"चार बरण सबके लगे सब कोई लेउ देख।

ब्राह्मण क्षत्री वैश्व शूद्र यह यजुर्वेद का लेख।।"[27]

इनके अतिरिक्त प0 बख्शीदास, बंशीराम मुसाफिर, केवलानन्द इत्यादि दलित कवि उस समय थे। ये सब आर्य समाज या आदि हिन्दू आंदोलन से प्रभावित थे। दरअसल दलित कविता स्वामी अछूतानन्द हरिहर के बाद आगे नहीं बढ़ पाई। दलितों की समस्याओं के समाधान के लिए इनमें से अधिकांश कवि वेद और ईश्वर की बात करते हैं। इस विषय में दलित चिंतक कंवल भारती कहते हैं: "स्वामी अछूतानन्द हरिहर ने दलित कविता को जहाँ पर छोड़ा था, वहां से उसे आगे बढ़ना था, व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष और सामाजिक परिवर्तन की चेतना को उसका प्रस्थान बिन्दु बनना था। पर, आर्य समाज के सामन्तीवादी आदर्शों ने उसकी धारा को प्रतिक्रांति की ओर मोड़ दिया।"[28]

इसी समय के लगभग महाशय रूपचन्द भी कविताएं लिख रहे थे। महाशय रूपचन्द पश्चिमी उत्तर प्रदेश के लोकप्रिय कवि थे। इनका संग्रह रूपचन्द भजनावली 1956 ई0 में प्रकाशित हुआ था। यह संग्रह लोक कविता की शैली मे लिखा गया था। इसके भजन इस क्षेत्र के दलितों मे बहुत लोकप्रिय हुए। महाशय रूपचन्द भी आर्य समाज के आंदोलन से प्रभावित थे। इनकी कविताओं को देखकर लगता है कि यह आम्बेडकर से ठीक–ठीक परिचित नहीं थे। फिर भी दलितों में जो जागरूकता आई थी उससे उन्होंने शिक्षा के महत्व को समझ लिया था। महाशय रूपचन्द्र कहते हैं:

"अरे अछूतों देखो निगाह प्रसार बिन विद्या के हालत बुरी।

इसी कलयुग प्रांत काल में कैसी तुम पर विपत पड़ी।"[29]

महाशय रूपचन्द अपनी कविताओं में दलितों की आर्थिक हालत का ज़िक्र भी करते हैं और दलितों को धन अर्जित करने की सलाह देते हैं। इस समय तक हिन्दी पट्टी में गांधी के हरिजन आंदोलन का प्रभाव ठीक तरह से पहुंच चुका था। महाशय रूपचन्द की कविताओ में उसकी गूंज सुनाई देती है। इन सब कवियों के मुकाबले जन कवि बिहारी लाल हरित ज्यादा चेतनाशील नज़र आते हैं। 1938 ई0 में उनकी जाटव भजनावली प्रकाशित हुई थी। इन कविताओं में दलितों की पीड़ा का वर्णन किया गया। पीड़ा से मुक्ति के लिए कवि अन्ततः ईश्वर की शरण में ही जाता है। बिहारी लाल हरित जब 1941–42 ई0 में डॉ0 आम्बेडकर के सम्पर्क मे आते हैं, तब उनकी कविताओं में परिवर्तन आता है। 1946 ई0 में उनकी 'अछूतों का पैग्म्बर' नामक लघु कविता संग्रह प्रकाशित हुआ। प्राप्त तथ्यों के आधार पर इससे पूर्व ही बिहारी लाल हरित की डॉ0 आम्बेडकर को लेकर दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं– 'अछूतों का 'बेताज बादशाह' और 'अछूतों का पिस्तौल'।[30]

अछतों का पैग्म्बर में हरित जी ने लिखाः

"जब तो लगा है दोस्तों आज़ार भीम का

दिल से न दूर होवेगा, यह प्यार भीम का"[31]

पूना पैक्ट (1932 ई0) के बाद से कांग्रेस और गांधी जी ने अपनी नीतियों में भारी फेर–बदल किया। पूना पैक्ट के ठीक 6 दिन बाद हरिजन सेवक संघ की स्थापना की गई। यह सब डॉ0 आम्बेडकर के आंदोलन को दबाने के लिए था। हरिजन आंदोलन से प्रभावित होकर जहाँ हिन्दी के कई कवियों ने सहानुभूतिवश दलितों पर कविताएं लिखीं वहीं बहुत से दलित हरिजन आंदोलन की तरह आकर्षित हुए। डॉ. आम्बेडकर ने 1927 ई0 में 'समता सैनिक' दल का गठन किया। इसके बाद उन्होंने दलितों–मज़दूरों की एकता की बात सोचकर 1936 ई0 में 'इन्डिपेण्डेन्ट लेबर पार्टी' का निर्माण किया। वे कम्युनिस्टों के क़रीब भी गए मगर आखों पर लाल पट्टी बांधे ब्राह्मणवादी मानसिकता वाले कम्युनिस्टों के गले जाति का सच नहीं उतरा। अन्ततः 1942 ई0 में उन्होंने 'ऑल इंडिया शेडयूल्ड कास्टस फेडरेशन' का गठन किया। फेडरेशन के नीले झण्डे पर कवि बिहारी लाल हरित की प्रतिक्रिया देखिऐः

"खोये अधिकार दिलायेगा ये भीम झंडा।

छुवाछूत मिटायेगा जय भीम का झंडा।।

... सारी कॉम जगावेगा जय भीम का झंडा।।[32]

यही बिहारी लाल हरित कांग्रेस में जगजीवन राम के अविर्भाव के बाद उनके भक्त हो गए। हालांकि बीच–बीच में हरित जी को डॉ0 आम्बेडकर भी याद आते हैं। बिहारी लाल हरित ने अपनी कविताओं के ज़रिए दलितों में जागृति लाने का प्रयास किया था। वर्ण व्यवस्था की तारीफ़ में कसीदे पढ़ने वालों को कवि कहता हैः

"करके खुदी को दूर खुद मजबूत बन के देख।

दो चार दिन के वास्ते अछूत बन के देख।

सिर पर जरा रख टोकरा मैले का टपकता।

गन्दगी में गढ़ जरा, सपूत बन के देख।

दो चार दिन के वास्ते अछूत बन के देख।"[33]

बिहारी लाल हरित के समय मे ही बुद्ध संघ प्रेमी भी कविताएं लिख रहे थे। शंकरानन्द शास्त्री ने 1946 ई0 में 'पूना पैक्ट बनाम गांधी' लिखकर हिन्दी पट्टी मे कोहराम मचा दिया। इस पुस्तक को पढ़कर दलितों को पूना पैक्ट की सचाई का एहसास हुआ। इससे दलित युवकों में चेतना आई। डा आम्बेडकर ने दलित आंदोलन को एक ऐसी जगह पर पहुँचा दिया कि दलितों का मुद्दा राजनीतिक मुद्दा बन गया। डॉ. आम्बेडकर ने दलितों के लिए भी राजनीति मे भागीदारी की मांग की। उन्होंने गोलमेज परिषद में ब्रिटिश सरकार से साफ–साफ कहाः "लेकिन सच बात यह है कि दलित वर्गों के लोग राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण किए जाने के लिए उत्सुक नहीं है। उनकी स्थिति साफ शब्दों में यदि बताई जाए तो यह है कि हम सत्ता का हस्तांतरण नहीं चाहते। लेकिन अगर ब्रिटिश सरकार इन शक्तियों को दबाने में असमर्थ है, जो देश में सत्ता के हस्तांतरण के लिए हो हल्ला मचाये हुए हैं– और हम जानते हैं कि दलित वर्गों के लोग इन शक्तियों का मुकाबला करने की स्थिति में नहीं हैं– तब हमारा निवेदन है कि अगर आप यह हस्तांतरण करते हैं, तब इस हस्तांतरण के साथ ऐसी शर्त और ऐसा प्रावधान होना चाहिए कि सत्ता किसी गुट, किसी अल्पतंत्र कुछ लोगों के वर्ग के हाथों में नहीं आ जाएगी, वो चाहे मुसलमान हो या हिन्दू, बल्कि इसका समाधान ऐसा होगा कि इस सत्ता में सारे समुदायों की अपने–अपने अनुपात के अनुसार साझेदारी होगी।"[34]

दरअसल डॉ0 आम्बेडकर यह अच्छी तरह समझते थे कि दलितों की समस्याएं बिना राजनीति में भागीदारी के नहीं सुलझेंगी। उनका साफ कहना धा कि सत्ता ही सत्ता का मुकाबला कर सकती है। वे जानते थे कि ब्रिटिश सत्ता के जाने के बाद यदि हिन्दू सत्ता में आ गए, तो भविष्य में दलितों की स्थिति और भी खराब हो जाएगी। चुनांचे उन्होंने दलितों के लिए सत्ता में भागीदारी की मांग की। डॉ0 आम्बेडकर एक नई पार्टी रिपब्लिकन

पार्टी ऑफ इण्डिया का गठन करना चाहते थे। वे इसकी रूपरेखा ही तैयार कर पाए थे कि उनकी मृत्यु हो गई। बाद में उनके करीबियों ने उनके इस सपने को साकार किया।

यह सही है कि आधुनिक काल की हिन्दी दलित कविता अधिक क्रांतिकारी नहीं थी। इसके कुछ ठोस काराण थे– पहला तो यह कि निुर्गण के विरूद्ध चला सगुण आंदोलन हिन्दी पट्टी में अपना असर जमाने में कामयाब हो गया था। दूसरा हिन्दी पट्टी में डॉ0 आम्बेडकर के आंदोलन से पहले ही आर्य समाज का आंदोलन पहुंच चुका था। तीसरे, जब तक डॉ0 आम्बेडकर का आंदोलन हिन्दी पट्टी में पहुँचा, तब तक गाँधी का हरिजन आंदोलन और कांग्रेस में बाबू जगजीवन राम का उभार काफ़ी घालमेल पैदा कर चुका था। इस दौर की दलित कविता चाहे जैसी रही हो मगर उसने भविष्य के दलित आंदोलन की उम्मीदों को कायम रखा। हिन्दी पट्टी में डॉ0 आम्बेडकर के आंदोलन के पहुँचने के पहले तक यह दलित कविता एक स्तर तक दलितों को आंदोलित करती रही। स्वामी अछूतानन्द हरिहर की कविताएं इसका जीता जागता उदाहरण हैं। यह विभिन्न रूपों में चल रहे दलित आंदोलन और कविता का ही दबाब था कि तुलसीदास पर कविता लिखकर उन्हें महान बताने वाले कवि निराला भी कहते हैः

"जल्द–जल्द पैर बढ़ाओं, आओ आओ!

आज अमीरों की हवेली

किसानों की होगी पाठशाला,

धोबी, पासी चमार, तेली

खोलेंगे अँधेरे का ताला

एक पाठ पढेंगे, टाट बिछाओ"[35]

निराला में चाहे कितनी कमियां हो, किन्तु इस कविता को हमें ईमानदारी से स्वीकार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त निराला ने 'राजे ने रखवाली की' नाम की अपनी कविता मे ब्राह्मणवाद की विजय किस तरह छल–प्रपंच से हुई, यह भी बताते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कवियों यथा पंत इत्यादि ने भी दलितों पर कविताएं लिखीं। यह ठीक है कि इन कवियों की ब्राह्मणवादी मानसिकता हमेशा इनके आड़े आती रही। फिर भी हमें उस दबाव को समझना चाहिए तो विभिन्न स्तरों–रूपों से इन कवियों पर पड़ रहा था। इधर बीच हिन्दी के कवियों पर मार्क्सवादी विचारधारा का भी प्रभाव पड़ा। 1936 ई0 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के मंच से अद्धयक्षीय भाषण देते हुए 'प्रेमचन्द' ने सुन्दरता की कसौटी बदलने का आह्वान किया। मार्क्सवादी कवियों ने इस कसौटी का एक हद तक बदला भी। मगर यही भी सच है कि यह कसौटी दलित

कविता में शुरू से ही विद्यमान रही है। भले ही मार्क्सवादी कवियों ने जाति की भारतीय सत्ता को दरकिनार करते हुए 'वर्ग' के दायरे में कविताएं लिखीं, मगर उन्होंने सोचने समझने का एक माहौल जरूर पैदा किया। डॉ0 आम्बेडकर 1956 ई0 में अपने निधन से पहले बौद्ध धर्म ग्रहण कर चुके थे। इसके बाद उनके करीबियों ने उनके सपने को साकार किया। रिपब्लिकन पार्टी का गठन दलित राज्यनीति के लिए बड़ी उम्मीद था। रिपब्लिकन पार्टी के कार्यकर्ताओं ने नाना पटिल के नेतृत्व में कम्युनिस्टों के साथ मिलकर कई जगहों पर भूमि सत्याग्रह किए। इसके परिणाम रूपरूप कई जगहों पर दलितों को खेती के लिए जमीनें मिलीं। अन्ततः रिपब्लिकन पार्टी टूट गई और इसका शीर्ष नेतृत्व कांग्रेस की राजनीति का शिकार होकर उसमें शामिल हो गया। इन सब घटनाओं का देश भर के दलितों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उत्तर प्रदेश जहाँ इस पार्टी का ठीक–ठाक जनाधार था, महाराष्ट्र के बाद सबसे ज्यादा प्रभावित हुआ। दलित राजनीति की परिणति चाहे जैसी रही हो मगर हिन्दी पट्टी के दलित साहित्य में कवियों की एक नई फौज तैयार हो चुकी थी। इस नई फौज के हिरावल दस्ते में चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु थे। इन्होंने डॉ. आम्बेडकर की महत्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद कर दलितों में चेतना लाने का महत्वपूर्ण काम किया। हिन्दी पट्टी में डॉ0 आम्बेडकर की जीवनी और विचारधारा पहुँच रही थी। यह नई पीढ़ी डॉ0 आम्बेडकर के विचारों से लैस होकर साहित्य–समाज की दुनिया में आयी थी। इस समय दलितों ने स्वयं प्रेस की स्थापना की। कानपुर के ललई सिंह यादव ने प्रेस की स्थापना कर बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित कीं। वे खुद भी बहुत अच्छे लेखक थे।

इस दौर की दलित कविता केवल दलितों की व्यथा का वर्णन ही नहीं करती। वह शासक वर्ग की राजनीति के साथ–साथ 'दलित राजनीति' की भी नोटिस लेती है। चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु उस समय प्रकाश लखनवी उपनाम से कवितताएं लिखते थे। उन्होंने दलित राजनीति के रूप में रिपब्लिकन पार्टी के उभार को बड़ी उम्मीदों के साथ देखा। वे कहतें हैं: "राजनीति में पार्टी रिपब्लिकरन काटेगी सारे गुलामी के बन्धन"[36] किन्तु जब पार्टी का पतन हुआ और वह अपने लक्ष्य से भटकने लगी तो दलित कवि लालचन्द्र राहीं ने लिखाः "रिपब्लिकन पार्टी का पहिया, बाबा आकर जरा धुमाओं।"[37] इस दौर की कविता, राजनीति कविता है। वह राजनीति से सीखती भी है और उसे बहुत कुछ सिखाती भी है। प्रकाश लखनवी जगजीवन राम को डॉ0 आम्बेडकर के पथ पर चलने की सीख देते हुए कहते हैं:

"भीतर रहकर यदि आप नहीं कुछ कर सकते, तो फिर सुनिए–

कर त्याग, निकल आयें बाहर. फैले उजियारी जगजीवन।

नेतृत्व करें बाहर आकर, बहुजन–समाज सिरमौर बने.

बाबा के आप बने सच्चे उत्तर–अधिकारी जगजीवन।"[38]

इस दौर की दलित कविता में 'मार्क्सवादी' तत्व भी दिखाई देते हैं। दलित कविता शोषण करने वाली व्यवस्था के विनाश की राजनीति की पक्षधर दिखाई देती है। इस दौर की दलित कविता पर हम अगले अध्याय में बात करेंगे।

इस तरह हम देखते हैं कि फूले व अन्य दलित आंदोलनकर्ता 19 वीं शताब्दी में अपने–अपने स्तर पर वर्ण–जाति व्यवस्था की मुखालफत कर रहे थे। डॉ0 आम्बेडकर ने भारतीय इतिहास में पहली मर्तबा अछूतों के सवाल का राजनीतिक सवाल बनाया। वे दलित आंदोलन को सत्ता में भागीदारी की मांग तक ले गए। डॉ. आम्बेडकर ने पूरे देश का ध्यान दलितों की तरफ सींचा। इससे मजबूरी में ही सही मुख्यधारा को दलितों के बारे में थोड़ा–बहुत सोचना पड़ा। उन्होंने वर्ण–जाति व्यवस्था की जोरदार प्रतिरोध किया और दलित आंदोलन को एक निर्णायक स्थिति में ले गए। इसके वितरीत 1950 ई0 तक की दलित कविता में हमें कोई खास क्रांतिकारी स्वर सुनने को नहीं मिलता। इसके कारणों की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। जो भी हो इस दौर की दलित कविता ने एक हद तक दलित आंदोलन को कायम रखा और भविष्य में दलित कविता और दलित आंदोलन की उम्मीदों को जिन्दा रखा। कालान्तर में दलितों द्वारा स्वंय की प्रेस स्थापना के बाद डॉ0 आम्बेडकर का जीवन–दर्शन अनुदित होकर हिन्दी पट्टी तक पहुँचा। इससे जो नई पीढ़ी तैयार हुई वह डॉ0 आम्बेडकर के विचारों से लैस थी। यह पीढ़ी कांग्रेस की ब्राहम्णवादी नीति को अच्छी तरह समझती थी। इस दौर के दलित कवि कांग्रेसी दलित नेता जगजीवनराम को भी पहचानते थे। इस पीढ़ी ने रिपब्लिकन पार्टी का पतन भी देखा था। अतः यह पीढ़ी सच्चे अर्थों में डॉ0 आम्बेडकर के विचारों को आगे ले जाने वाली थी। इस दौर की दलित कविता ने एक नया दलित आंदोलन शुरू किया इस नई पीढ़ी के पास नए तेवर थे। इस दौर की दलित कविता के बारे में बकौल कंवल भारतीः "वह दलित राजनीति के पीछे चलने वाली कविता नहीं थी, वरन वह दलित राजनीति आन्दोलन को दिशा देने वाली कविता थी।"[39]

60 के दशक में नए तेवर से लैस इस दलित कविता ने भविष्य की कविता और आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया। इस बारे में हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

4.3 व्यवस्था विनाश की राजनीति और दलित कविता

60 के दशक में जहाँ मुख्यधारा के साहित्य में नई कविता और उसके बाद अकविता आंदोलन चले, वहीं दलित कविता अधिक आक्रामकता के साथ सामने आई। इस दौर की दलित कविता में समाजवाद के स्वर के साथ–साथ शोषणकारी व्यवस्था के विनाश की गूंज भी सुनाई देती है। अकविता आंदोलन में शामिल कवि जबरदस्त मोहभंग के शिकार थे। दरअसल इसके पीछे तत्कालीन वातावरण काम कर रहा था। ये चींज़े इतिहास से ही आ रहीं थी। एक हद पर जाकर अकविता समाज, संस्कृति, राजनीति तक को नकार देती है। राजकमल चौधरी यहाँ तक कहते हैं:

"आदमी को इस लोकतन्त्री संसार से अलग हो जाना चाहिए

चले जाना चाहिए कस्साबों गांजाखोर साधुओं

भिखमंगों अफीमची रंडियों की काली और अन्धी दुनिया में मसानों में

अधजली लाशें नोचकर

खाते रहना श्रेयस्कर है जीवित पड़ोसियों को खा जाने से"[40]

इन कवियों का व्यवस्था से इस कदर मोहभंग हुआ कि ये लोग भाग जाना चाहते थे। दूसरी तरफ ये कवि व्यवस्था पर कड़ी चोट भी कर रहे थे। इन कवियों ने कविता के सारे प्रतिमान ध्वस्त कर दिए। इन कवियों ने ऐसे बिम्बों का प्रयोग किया, जिससे सिस्टम को चोट पहुंचे। पितृप्रधान समाज में स्त्री एक सिस्टम है, अतः इन्होंने यौन बिम्बों का प्रयोग किया, ये कवि संसदीय लोकतंत्र क साथ मैथुन की इच्छा रखते हैं, उसे चीर–फाड़ देना चाहते है। अन्ततः इन कवियों में व्यवस्था के प्रति गहरी वितृष्णा का भाव नज़र आता है। कोई मॉडल पास नहीं होने के कारण ही ये कवि मोहभंग का शिकार हुए।

दूसरी तरफ इस दौर की दलित कविता राजनीतिक कविता बन जाती है। वह दलितों और सर्वहारा के साथ मिलकर आम्बेडकर के सपनों का समाजवाद लाने के लिए प्रतिबद्ध नज़र आती है। उसमें समाजवाद का स्वर साफ़–साफ़ सुनाई देता है। इस दौर की दलित कविता दलितों तथा सर्वहारा का शोषित व्यवस्था के विनाश के लिए आह्वान करती है। दरअसल ऐसा नहीं था कि आज़ादी के बाद केवल अकविता आंदोलन के कवियों के सपने ही टूटे थे। आज़ादी से सबसे ज़्यादा आस तो दलितों ने लगा रखी थी। इतना ही नहीं इस पीढ़ी ने पूना पैक्ट, जगजीवन राम की दलितों के नाम पर राजनीति तथा दलित राजनीति की उम्मीद रिपब्लिकन पार्टी का पतन भी देखा था। इसलिए यह पीढ़ी पूरी तरह पककर साहित्य–समाज की दुनिया में आई थी। इसलिए इस दौर की दलित कविता में

अकविता की तरह राजनीति के प्रति वितृष्णा का भाव नहीं मिलता बल्कि वह स्वयं व्यवस्था विनाश की राजनीति करती नज़र आती है। प्रकाश लखनवी उपनाम से कविताएं लिखने वाले चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु तमाम उत्पीड़ितों का आह्वान करते हुए कहते हैः

"बाम्हनशाही ढोंग मिटाओं, अब तो भारत है आजाद।

साम्यवाद की बजे दुंदभी, वर्ण–जाति होवे बरबाद।।

सौ मां नब्बे शोषित हो, शोषक सौ मां दस है यार।

एका करौ सबै शोषित मिलि, करो हुकूमत पर अधिकार।।"[41]

डॉ0 आम्बेडकर इस बात को ठीक तरह से समझते थे कि यदि सत्ता कॉग्रेस के हाथों में आ जाएगी तो यह तमाम उत्पीड़ितो के लिए बहुत खतरनाक होगा। इसलिए रेलवे मज़दूरों द्वारा आयोजित किए गए दलित सम्मेलन में उन्होंने साफ़–साफ़ दो शत्रुओं की तरफ इशारा किया थाः ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद। तथाकथित आज़ादी के बाद यही हुआ भी। आज़ादी के बाद ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद का ऐसा गठजोड़ हुआ कि उत्पीड़ितों का शोषण और तीव्र हो गया। डॉ. आम्बेडकर ने इस इस बारे में चेताते हुए कहा था किः "शासक वर्ग वैसे ही सत्ता पर हावी हो जाएगा जैसा कि अन्य देशों में होता है। संक्षेप में स्वराज्य जनता की सरकार नहीं होगी, वरन् शासक वर्ग की सरकार होगी और जनता की सरकार जनता के लिए सरकार के नारे को शासक वर्ग दफना कर, जो चाहे करेगा।"[42]

इस बात को भगत सिंह पहले ही अपने लेखों के ज़रिए कह चुके थे। प्रेमचन्द अपने साहित्य के माध्यम से यही बात कह रहे थे। ये तमाम लोग इस बात को ठीक तरह से समझ रहे थे कि मात्र सत्ता बदलने से कुछ नही हो जाएगा। जरूरी है कि सत्ता का चरित्र बदले। इन लोगों की बात सच साबित हुई तथाकथित आज़ादी के बाद सत्ता तो बदली, मगर उसका चरित्र नहीं बदला। इससे शोषण और मज़बूत हुआ। इस दौर की दलित कविता शोषण के इस नए रूप को पहचानती है और उसे ठीक–ठीक पकड़ती है। शोषण के इस रूप को पकड़ते हुए प्रकाश लखनवी अपनी कविता जमाने की रफ्तार में कहते हैं :

"मिल–मालिकों से चुपके, लाखों की मदद लेना,

बढ़वाना कीमतों का, पब्लिक का गला कटाना।

मोटों की मदद करना, चुसवाना गरीबों को,

नश्तर फलक के दिल में, शोखी से है लगाना।"[43]

इस दौर में दलित कविता सिर्फ शोषण को पकड़ती ही नहीं। वह आज़ादी पर भी सवाल खड़े करती है। आज़ादी से दलितों को बहुत उम्मीद थी। इस दिन का उन्होंने भी बड़ी खुशी से स्वागत किया था। मगर यह आज़ादी सिर्फ कुछ लोगों की आज़ादी थी। इस तथ्य को समझते हुए और इसकी पोल खोलते हुए प्रकाश लखनवी कहते हैः

"यह पन्द्रह अगस्त, आजादी का दिन है, पर किसकी ?

करतल–गत है पूंजी, प्रभुता, शासन–सत्ता जिस्की।।

राम राज्य है मुट्ठी भर को, सुख–सम्पति खुशहाली।

बहुजन दुखी अभाव–ग्रसित हैं, रोजी से भी खाली।।

पिछड़ा और पिछड़ता जाता, दबा दब गया और।

अगड़ा और अगड़ता जाता, बना हुआ सिरमौर।।"[44]

इस कविता में आगे प्रकाश लखनवी साफ़–साफ़ कहते हैं कि केवल क्रान्ति ही शासन को बदल सकती है। सुधार से कुछ नहीं होने वाला। वह उत्पीड़ितों के लिए बहुजन शब्द का इस्तेमाल करते हैं और उनसे महाक्रान्ति की भीम प्रतिज्ञा करके अर्थव्यवस्था को तोड़–फोड़कर धर्म–समाज बदलने का आह्वान करते है। इस दौर की दलित कविता पूरी तरह आम्बेडकर के विचारों से लैस है और व्यवस्था विनाश की बात करती है। इन कविताओं की राजनीतिक चेतना का पता इसी बात से लगता है कि कवि तमाम उत्पीड़ितो को बहुजन की संज्ञा देता है और उन्हें महाक्रान्ति के लिए प्रेरित करता है। ये कविताएं जाति के तंग दायरे को तोड़ती नज़र आती है। और तमाम उत्पीड़ितो को बहुजन के व्यापक दायरे में समेट लेना चाहती हैं। कवि जानता है कि तमाम उत्पीड़ितों को शासन–सत्ता ने भ्रम फैलाकर अलग कर रखा है चुनांचे कवि उनमें एका लाने की बात कहता है और हुकूमत पर अधिकार कर लेने के लिए उन्हें जगाता है। देखने वाली बात यह है कि दलित कवि, अकविता आंदोलन के कवियों की तरह मोहभंग का शिकार नहीं होता बल्कि तमाम मुसीबतों का सामना करता है। उनसे पास मुक्ति का मॉडल है। वह तमाम शोषितों में एका लाकर महाक्रान्ति लाना चाहता है। उसे पता है कि उत्पीड़ितो की संख्या, उत्पीड़को से कहीं ज्यादा है चुनांचे वह उनसे देश पर अधिकार करने की बात कहता हैः

"देश अब तो है पूर्ण स्वतन्त्र, यहाँ पर कायम है जनतन्त्र।

और है बालिग मत–अधिकार, तुम्हारी संख्या अमिति अनन्त।।

उठो, जागो, तोड़ो यह नींद, देश पर कर लो निज अधिकार।

यही बाबा का है उपदेश, यही है ज्ञान, नीति का सार।।"[45]

इस समय की दलित कविता की राजनीतिक समझ एकदम साफ़ थी। वह सिर्फ़ ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद की ही तीखी आलोचना नहीं कर रही थी वरन् दलितों के नाम पर सत्ता की राजनीति कर रहे जगजीवन राम सरीखे दलित नेताओं की भी आलोचना करती है। उन्हें सही रास्ते पर आने की सलाह देती है।

इस समय की दलित कविता में बार–बार समाजवादी स्वर सुनाई देता है। दलित कविता अपने आंदोलन को आगे बढ़ाने के लिए तमाम उत्पीड़ितों को साथ लेकर चलने का आह्वान करती है। यह बहुत बड़ी बात थी। इस बात का पता अभी तक नहीं चल पाया है कि तत्कालीन मार्क्सवादी कवियों ने इन कविताओं की नोटिस ली थी कि नहीं? वैसे इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। मगर दलित कविता अपने व्यवस्था विनाश के तेवर को लिए आगे बढ़ रही थी। दलित कवि तमाम उत्पीड़ितों को यह एहसास दिलाते हैं कि वे उत्पीडकों से संख्या में कहीं ज़्यादा हैं। इसलिए उन्हें देश को अपने हाथों में ले लेना चाहिए, क्योंकि ये देश उनका है। दलित कवि दुलारे लाल जाटव बड़ी साफ़गोई से उत्पीड़ितों को आह्वान करते हैः

"पर अब तो ब्राह्मण–ठाकुर–लाला ही शोषणकारी हैं।

जिनकी स्वार्थ पूर्ण माया से, शोषित सभी दुखारी है।।

उपर से नीचे तक इनका शासन में है जाल बिछा।

गाँधी और खादी–परदे में कैसा भ्रष्टाचार मचा।।

यह कैसा अंधेर, जहाँ पर इस की तो सब चलती है।

पर नब्बे प्रतिशत बहुमत की दाल नहीं कुछ गलती है।।

तुम तो हो सम्पत्ति देश की, वोट तुम्हारे हैं ज्यादा।

क्यों तुमने गफलत में सर पर भार लुटेरों का लादा।।

देश तुम्हारा, तुम हो राजा, तुम न कहीं से आये हो।

ले लो अपना राज हाथ में, क्यों अब देर लगाये हो।।"[46]

कवि एक तरफ ब्राह्मणवादी–जातिवादी सत्ता के चरित्र को पेश कर रहा हैं वहीं दूसरी तरफ कांग्रेस की भ्रष्ट राजनीति का पर्दाफ़ाश भी कर रहा है। यह दलित कविता की राजनीतिक चेतना थी। दलित कविता ने इस समय तक ब्राह्मणवाद के चरित्र तथा शोषण करने के उसके तरीके को अच्छी तरह पहचान लिया था। दलित कवि भीखाराम गरड़िया ब्राह्मणवाद के इसी चरित्र को व्यंग्यात्मक लहज़े में पेश करते हैः–

"मैं पूरा अवसरवादी हूँ, अगुवा बनने का आदी हूँ,

मैं धूर्त, पहनता खादी हूँ, दुनिया को ठग कर खाता हूँ।

मैं पंडित जी कहलाता हूँ।।"[47]

दलित कवि अगर जाति के तंग दायरे से बाहर निकल रहे थे तो, जातिवाद को दूर करने की बात भी कर रहे थे। इसलिए जहाँ वे एक तरफ तमाम उत्पीड़ितों में एका लाकर उन्हें बहुजन की व्यापक अवधारणा में समेटना चाह रहे थे, वहीं दूसरी तरफ रोटी–बेटी का व्यवहार भी करने की बात कह रहे थे। जातिवाद अगर किसी चीज़ से दूर हो सकता है तो वह है रोटी–बेटी का व्यवहार। तमाम समाज सुधार आंदोलन चलाने वाले उच्चवर्णीय हिन्दू इस बात को जानते थे इसलिए उन्होंने रोटी के मसले पर तो बात करते थे, मगर बेटी के मसले पर वह चुप्पी साधे रहे। डॉ0 आम्बेडकर ने इस तथ्य को अच्छी तरह से समझा था चुनांचे उन्होंने विभिन्न जातियों में रोटी–बेटी सम्बन्ध क़ायम करने की वकालत की थी। इस दौर के दलित कवि भी इस बात को समझते है। दलित कवि बिहारी लाल कलवार अपनी कविता में जहाँ एक ओर शोषकों को ललकारतें हैं वही दूसरी तरफ रोटी–बेटी का रिश्ता क़ायम करके, उत्पीड़ितो को संगठन बनाने की सलाह देते हैं :

"सुखन का हमारे असर देख लेना।

जो हैं जेर उनको जबर देख लेना।।

अजी रोटियाँ–बेटियाँ एक होगी।

रहेगी न कुछ भी कसर देख लेना

इधर है हम नढवे, उधर दस है शोषक।

न फिर भी खबर हो, समर देख लेना।।"[48]

तत्कालीन समाज में भले ही ये चींज़े न हो रही हों, मगर दलित जाग रहा था और सोच रहा था। ये कवितायें शोषणकारी व्यवस्था के विनाश की राजनीति का आह्वान करती है। ये कविताएं आंदोलन को मज़बूती प्रदान करती है क्योंकि ये ज़मीनी आंदोलन से जुड़ी कविताएं है। इन कविताओं की भाषा बहुत सादी है। पहले भी कहा जा चुका है कि मुक्ति की कविता बिना संवाद किए जीवित नहीं रह सकती। दलित कविता मुक्ति की कविता है। वह पाठकों–श्रोताओं से संवाद स्थापित करती है। इस दौर की दलित कविता उत्पीड़ितों की भाषा में उत्पीड़ितो की कविता है। भले ही सौन्दर्य के पिपासु मुख्यधारा के तमाम आलोचकों को इनमें कोई सौन्दर्य न दिखाई दे, मगर इन कविताओं में मुक्ति की आकांक्षा का सौन्दर्य है। शोषणकारी व्यवस्था की मुखालफ़त का सौन्दर्य है। एक बेहतर दुनिया की कामना का सौन्दर्य है। ऐसी ही एक कविता दलित कवि रमेश चन्द्र मल्लाह की है:

"कब्जा है शोषकों का तलवार शोषकों की।

है मुल्क शोषकों का सरकार शोषकों की।

शोषितों का खूँ जो खौला, चुपके से चल पड़े है।

करने को आज कब्रें तैयार शोषकों की।।"[49]

जैसा कि हम जानते हैं ये आंदोलन की कविताएं हैं चुनांचे ये कविताएं जोश से लबरेज़ है। ये कविताएं पाठकों–श्रोताओं को जगाती है। उन्हें सोचने को विवश करती है। उनके सामने बेहतरी का एक मॉडल पेश करती है। इसलिए इन कविताओं की मेन टोन ऐसी है। दलित कवि जिस समाज से आए थे, उस समाज की स्मृति में पीड़ा के अतिरिक्त कुछ नहीं था। इतिहास मे उनको केवल तिरस्कार दिखाई दिया। धर्म के नाम पर ईश्वर के दरबार से भी वे बेदख़ल थे। उनको जानवरों से भी बद्तर समझा गया। ऐसा कवि जब लिखेगा तो क्रान्ति का ही गीत लिखेगा। वह बोलेगा नहीं बल्कि दहाड़ेगा। वह अपने तमाम सहोदरों की आवाज़ बनेगा, जिन्हें हमेशा चुप रखा गया। वह खुलकर अपनी प्रतिबद्धता ज़ाहिर करेगा। वीर सिंह चन्द्र की गर्जना सुनिए:

"मैं कवि हूँ शोषित जनता का, गिरि पर खड़ा पुकार रहा हूँ।

मै कवि हूँ दलितों–पतितों का, कटु ध्वनि से हुंकार रहा हूँ।।[50]

इतना ही नहीं कवि मुख्यधारा के तमाम कवियों की खबर भी लेता है जो चाटुकारिता को कविता की भाषा मे सामन्तों–राजाओं को सुनाकर अपनी जीविका चलाते रहे:

"उन कवियों से परिचित हूँ मैं, जिन्हें स्वार्थ ने था ललचाया।

जिस–जिसने अपनी प्रतिभा से, चाटुकारिता को अपनाया।।"[51]

इन कवियों के अतिरिक्त सत्यमित्र विधालंकार, नन्द किशोर न्यायी, रामशरण विधार्थी, साथी तथा बदलुराम रसिक, इत्यादि महत्वपूर्ण कवि थे जो एक तरफ तो दलित जनता को जगा रहे थे, दूसरी तरफ तमाम उत्पीड़ितो में एकता लाने का आह्वान कर रहे थे। ये कवि व्यवस्था विनाश की कविताएं लिख रहे थे, मगर इनके पास नए निर्माण का मॉडल भी था। बदलुराम रसिक जो काफी लोकप्रिय कवि थे, कहते हैः

"मिटायेंगे शोषण की खूँखार हस्ती।

बसायेंगे शोषित नयी अपनी बस्ती।।"[52]

दलित आंदोलन को ऊर्जा देने में इस दौर की कविता ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश व आस–पास के बूढे दलित आज भी इन कवियों की क्रान्तिकारी कविताओं को मुँह जवानी रटे हुए हैं। यह इन कविताओं की लोकप्रियता और सफलता का सबसे बड़ा उदाहरण है। ये बूढ़े दलित, नई पीढ़ी को यह कविताएं सुनाकर उनका आह्वान कर रहे हैं। आने वाले समय के लिए उन्हें तैयार कर रहें हैं। समकालीन दलित कवि इन्हीं कवियों की कविताएं पढ़–सुनकर यहाँ तक पहुँचे हैं। इस दौर की दलित कविता के बारे में दलित चिंतक कंवल भारती कहते हैः "इस कविता ने जाति के तंग दायरे को तोड़ा था और उस व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठायी थी, जो शोषण और अन्याय पर आधारित पूंजीवादी और ब्राह्मणवादी व्यवस्था थी। ये कवि शोषक वर्गों की सत्ता को ध्वस्त कर दलित शोषित सर्वहारा की सत्ता चाहते थे।"[53]

जिस समय ये कवि अपनी कविताओं के ज़रिए व्यवस्था विनाश की राजनीति कर रहे थे, उसी समय के लगभग हिन्दी कविता ज़बरदस्त करवट बदल रही थी। अकविता का दौर खत्म होता है। बंगाल, बिहार में नक्सलवादी आंदोलन की गूंज सुनाई देती है। मार्क्सवादी कवि इस आंदोलन क पक्ष में कविताएं लिखकर व्यवस्था विनाश की राजनीति के हिरावल दस्ते में शामिल हो जाते है। हिन्दी की साठोत्तरी कविता राजनीतिक पुर्नवास की कविता है। इस समय के मार्क्सवादी कवियों की कविताओं में राजनीति का जबरदस्त छायांकन मिलता है। यह 1967 ई. का दौर था। इसके बाद की हिन्दी कविता नक्सलवादी आंदोलन से बहुत गहरे प्रभावित होती है। अलग–अलग प्रवृत्तियों से जुड़े कवि इससे प्रभावित होकर सक्रिय हो जाते है। नक्सलबाड़ी आंदोलन बंगाल के नक्सलबाड़ी से शुरू होकर बिहार के भोजपुर तक पहुँच जाता हैं। और इसकी धमक देश में हर जगह सुनाई देती है। इसी के साथ सत्ता का तीव्र दमन चक्र भी चलता है। धूमिल नक्सलबाड़ी आंदोलन को समर्थन देते हुए कहते है :

"भूख से रियाती हुई फैली हथेली का नाम

दया है

और भूख में तनी हुई मुट्ठी का नाम

नक्सलबाड़ी है।"[54]

एक तरफ ये कवि नक्सलबाड़ी आंदोलन को अपनी कविताओं के ज़रिए समर्थन दे रहे थे, वहीं दूसरी तरफ इस आंदोलन को जनता के दूसरे हिस्से तक पहुंचा रहे थे। कुमार विकल, कविता को गुरिल्ला शुरूआत की संज्ञा देते हैं:

"दुःख को कविता में रो देना

यह कविता की रात है

दुख से लड़कर कविता लिखना

गुरिल्ला शुरूआत है।"[55]

नक्सलवादी आंदोलन ने भूमिहीन मज़दूरों, दलितों एवं छोटे किसानों के ज़मीन पर मालिकाना हक़ के लिए लड़ाई शुरू की। नक्सलवादियों ने जनता में नारा दिया कि ज़मीन जोतने वाले की। ज़मीन के मालिकाना हक़ की मांग को लेकर नक्सलवादियों और ज़मींदारों, जिनके पास सत्ता की ताकत भी थी। के साथ सशस्त्र लड़ाई हुई। मज़दूरों, दलितों तथा छोटे किसानों ने इस संघर्ष में भाग लिया। आलोक धन्वा अपनी कविता 'गोली दागो पोस्टर' में ज़मीन पर काम कर रहे किसानों–मज़दूरों को ज़मीन के लिए गोली दागने का ऐलान करते है:

"जिस जमीन को मैं जोतता हूँ

जिस जमीन में मैं बीज बोता हूँ और

जिस जमीन से अन्न निकालकर मैं

गोदामों तक ढोता हूँ

उस जमीन के लिए मुझे गोली दागने का अधिकार है या

उन दोगले जमीदारों को"[56]

नक्सलवादी आंदोलन ने बंगाल–बिहार समेत जनता के एक बड़े हिस्से को प्रभावित किया। इस आंदोलन में जनता और शोषकों के बीच सीधे टकराव हुआ। यह एक सशस्त्र आंदोलन था। बिहार के कई हिस्सों के दलित भी इस सशस्त्र आंदोलन में शामिल हुए। निसन्देह बिहार में नक्सलवादी आंदोलन ने दलितो को अपने हक़ के लिए लड़ना सिखाया। दलितों ने इस आंदोलन के ज़रिए आत्मसम्मान से जीना सीखा। यह वर्गीय आंदोलन था और इसने दलितों में मज़दूर होने का एहसास जगाया। अपने हक़ के लिए लड़ना–मरना और मारना सिखाया। भले ही यह आंदोलन सत्ता के दमनचक्र का शिकार हुआ, मगर बिहार के कई क्षेत्रों में यह आंदोलन आज भी अलग–अलग रूपों में सक्रिय है। यह ठीक है कि इस आंदोलन ने बिहार के दलितों में प्रतिरोध का जज़्बा पैदा किया है, मगर उन्हें इसकी भारी कीमत भी चुकानी पड़ी है। फिर भी उनकी हालत पहले से तो बेहतर कही जा सकती है। मगर यह भी देखने में आया है कि आम जनता इस आन्दोलन से तात्कालिक जीवन में सुधार के कारण जुड़ी हैं, न कि किसी क्रान्ति के लिए। निसन्देह ऐसी जनता में दलितों की संख्या ज्यादा है। इस बारे में बेला भाटिया का आकलन हैः "असलियत यह है कि लोग क्रांति के दीर्घकालीन विचार के प्रति लगाव के कारण नहीं बल्कि अपनी जीवन स्थितियों कारण और आंदोलन के अपने फौरी लक्ष्यों में अपने हितों के कारण आंदोलन मे शमिल होते है।"[57]

यह सत्य है मगर इस आंदोलन ने एक हद तक दलितों के जीवन में बदलाव किया है। आज सत्ता ने जिस तरह से शोषण का तरीका बदला है उससे लडने में सशस्त्र आंदोलन नाकाफी दिखाई देता है। आज सत्ता विकास के नाम पर विनाश कर रही है। जहाँ एक तरफ सत्ता 'स्पेशल इकोनॉमिक जोन' के नाम पर किसानों की ज़मीनें हडप रही है वहीं दुसरी तरफ तमाम काले कानूनों के ज़रिए अपने खिलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को दबा रही है। जो भी हो इस आंदोलन और उससे उपजी कविता ने व्यवस्था विनाश की राजनीति का एक विकल्प प्रस्तुत किया। इस आंदोलन का असर साहित्य– समाज पर आज भी देखा जा सकता है। इस आंदोलन ने भविष्य के तमाम जनवादी आंदोलनों के लिए एक मार्ग प्रशस्त किया। बंगाल–बिहार व पूर्वी उत्तर प्रदेश में आज भी आंदोलनकारी, गोरख पाण्डे इत्यादि कवियों द्वारा इस आंदोलन के दौरान लिखे जन गीतों को गाते है।

नक्सलवादी आंदोलन की आग पूरी तरह शांत भी नहीं हुई थी कि महाराष्ट्र में 1971 ई. में दलित पैथंर आंदोलन ने एक नए तरीके से व्यवस्था विनाश की राजनीति का बिगुल बजा दिया। इस आंदोलन की शुरूआत डॉ0 आम्बेडकर के नव बौद्ध अनुयायियों ने की थी। जब यह पीढ़ी कॉलेज से बाहर आई तो बहुत सी उम्मीदें लेकर आई, मगर बाहर उन्हें

बेराजगारी, भ्रष्टाचार, जातिगत अपमान और दंगों का सामना करना पड़ा। यह पीढ़ी डॉ0 आम्बेडकर के विचारों से लैस थी, मार्क्सवाद से भी उसका परिचय था और वह उन्हें आर्कषित भी करता था। इस पीढ़ी ने अमेरिका के ब्लॉक पैंथर के गठन पर घनश्याम शाह कहते हैं "सत्तर के दशक की श्शुरूआत में महाराष्ट्र के कुछ साहित्यकारों ने एक पर्चा निकालकर सरकार को चेतवानी दी कि अगर दलितों के खिलाफ जुल्म रोकने के लिए कडे कदम न उठाने गए तो वे कानून अपने हाथ में ले लेंगे और हथ्यिारबंद क्रांति करने की योजना की हद तक जा सकते है।"[58]

बाद में नामदेव ढसाल और जे0 वी0 पवार ने मिलकर दलित पैंथर का गठन किया। अगस्त 1972 में राजा ढाले ने 'काला स्वतंत्रता दिवस' नाम का लेख लिखकर सनसनी फैला दी। दलित शब्द यहीं से प्रचलन में आया और लोकप्रिय हो गया। दलित कवि कविताओं के माध्यम से आंदोलन को आगे बढ़ाने लगे। इससे महाराष्ट्र के दलित, संगठन की तरफ आकर्षित हुए। उन्हें इसका जुझारू तेवर पसंद आया और स्थानीय स्तर पर दलित पैंथर की शाखाएँ गठित होने लगी। सत्तर के दशक में दलित पैंथरों और द्विज जातियों के बीच कई बार खुले टकराव हुए। 1974 के वर्ली के दंगे और 1978 में औरंगाबाद के दंगे इस परिघटना के जाने–माने उदाहरण है।"[59]

दलित पैंथरों ने दलित की पहचान को सर्वहारा में बदलने की कोशिश की और अपना रिश्ता दुनिया भर में चल रहे जन आंदोलनों से कायम करना चाहा। निश्चित ही पैंथर पर नक्सलवादी आंदोलन का प्रभाव था। दलित का दायरा बढ़ाते हुए इन्होंने तमाम उत्पीड़ितो को दलित माना। अपने घोषणा पत्र में इन्होंने दावा किया कि: "हम मज़दूरों, दलितों, भूमिहीनों, गरीब किसानों का सभी चिरस्थायी शहरी उद्योगों द्वारा सभी गांवों में संगठन का निर्माण करेंगे। दलितों पर होने वाले सभी अन्यायकारी अपराधों के विरूद्ध लड़ेंगे। हम सचमुच तथा संगत तरीके से जाति तथा वर्ण व्यवस्था को नष्ट कर देंगे, जो लोग कंजूसी करके तथा लोगों का शोषण करके सम्पन्न हुए है उन्हें नष्ट करके दलितों को मुक्त करा देंगे। वर्तमान कानूनी व्यवस्था तथा राज्य ने हमारे सभी सपने धूल में मिला दिए है। इसलिए दलितों के विरूद्ध सभी प्रकार के अन्याय को मिटाने के लिए उन्हें अपने आप को शासनकर्ता बनाना चाहिए। यह है जनता का लोकतंत्र। सहानुभूति रखने वाले तथा दलित पैंथरों के सदस्य अब सभी दलितों के लिए अंतिम संघर्ष करने के लिए तैयार हो जाओ।"[60]

दलित पैंथर का उद्देश्य बहुत व्यापक था। वे तमाम उत्पीड़ितों को दलित मानकर उनकी मुक्ति चाहते थे। वे असल में जनता का लोकतंत्र लाना चाहते थे और इसके लिए वे क्रान्ति करने को तैयार थे। पैंथर के कार्यकर्ता अपनी कविताओं अपनी कविताओं के माध्यम

से दलित जनता तक पहुँच रहे थे। उन्हें जागरूक करके क्रान्ति के लिए तैयार कर रहे थे। जे0 वी0 पवार दलित युवाओं का आह्वान करते हुए कहते हैं:

"क्रान्ति का इंतजार नहीं किया जा सकता

अब अपने मुक्के को कस लो, उसे ढ़ीला न होने दो

मैने बहुत सहन किया है, अब सहन नहीं होता

मैं अपने रक्त के प्रति बेईमान नहीं हो सकता

इसलिए मुझे शस्त्र धारण करने का आदेश दो।"[61]

वहीं नामदेव ढसाल क्रांति के लिए बेचैन होते हुए कहते है:

"मेरे अन्दर अनगिनत सूर्य हैं

इसलिए मोर्चे निकालने के लिए मेरा खून खौलता है

तथा एक शहर से दूसरे शहर को

मोर्चे से जला देने को मन चाहता है।"[62]

इस तरह दलित पैंथर के कार्यकर्ताओं ने कविता व आंदोलन के ज़रिए व्यवस्था विनाश की राजनीति को आगे बढ़ाया। किन्तु आगे चलकर संगठन टूट गया। संगठन की अंदरूनी दिक्कतें सुलझ नहीं पाई और नेताओं के वैचारिक मतभेदों के चलते यह बिखर गया। मगर दलित पैंथर ने व्यवस्था विनाश की जिस लड़ाकू राजनीति की शुरूआत की वह भविष्य की दलित कविता और आंदोलन के लिए प्रेरणास्रोत बना। भले ही यह आंदोलन बिखर गया मगर पहली बार इसके ज़रिए दलित जनता क्रान्तिकारी आम्बेडकर से परिचित हुई।

हम देखते हैं कि 1960–80 का दौर भारत में व्यवस्था विनाश की राजनीति का दौर है। इस दौर में कविता पूरे आंदोलन में नेतृत्वकारी भूमिका अदा करती है। दलित कविता ने व्यवस्था विनाश की राजनीति का घोषणा पत्र बनकर दलित आंदोलन की दिशा तय की है। इस दौर की दलित कविता जाति के तंग दायरे को तोड़कर तमाम उत्पीड़ितो की मुक्ति चाहती है। इस मुक्ति चाहने के क्रम में वह हमारे सामने व्यवस्था विनाश की राजनीति का दस्तावेज़ बनकर सामने आती है। इस दौर की कविता से जहाँ भविष्य की कविता प्रेरणा लेती है, वहीं इनसे आने वाले आंदोलनों को भी मज़बूती मिलती है। ये कविताएं उत्तर प्रदेश के बहुत से क्षेत्रों में बड़े–बूढ़ों दलितों द्वारा आज भी गाई जाती है।

इन कविताओं से जहाँ दलितों क बड़े–बूढ़े अतीत की इस व्यवस्था विनाश की राजनीति करने वाली कविता को याद करते हैं; वहीं दलित युवा इन कविताओं को पढ़–सुनकर भविष्य के लिए तैयार हो रहें है।

4. 4 सत्ता की राजनीति और आधुनिक दलित कविता

दलित कविता राजनीतिक कविता है। उसका जन्म एक खास प्रकार की राजनीतिक इज़ारेदारी से संघर्ष के दौरान हुआ है। दलित कविता को राजनीतिक कविता होना भी चाहिए। जिस दिन वह राजनीतिक कविता नहीं रह जाएगी, वह अपने असल मायने खो बैठेगी। दलित कविता के लिए दो चीज़े बेहद ज़रूरी हैं: पहली उसका राजनीतिक चरित्र और दूसरी उसकी मुक्ति की आकांक्षा। दलित कविता की लम्बी और समृद्ध परम्परा है मगर आधुनिक दलित कविता का उदय 80 के दशक में होता है। जैसा कि हम जानते हैं दुनिया का दबा–कुचला हिस्सा पिछले 20–25 सालों से उभर रहा है, बल्कि सिर्फ़ उभर ही नहीं रहा आन्दोलित भी हो रहा है। इसी क्रम मे आधुनिक दलित कविता भी आई। दलित कविता में वे ही लेाग सक्रिय हैं जो दलित आन्दोलन में भी सक्रिय रहे। जब सामाजिक संरचना मे परिवर्तन होता है तो साहित्य में भी बदलाव आता है। दलित कविता भी इससे अछूती नहीं है। 80 का दशक ऐसा ह समय है, जब सामाजिक संरचना में भीषण बदलाव होता है। धुव्रीकरण तेज़ी से होती है और सामाजिक अवयवों के आपसी सम्बन्ध बदलते हैं। इस आधार पर साहित्य में भी तेज़ी से बदलाव हुआ है। दलित–स्त्री आदिवासी लेखकों के एक नई फौज आइ, जिसने पूर्व के इतिहास एवं साहित्य चिंतन को कटघरे में खड़ा कर दिया। इसके पीछे बहुत सारी शक्तियां क्रियाशील रहीं, जिससे हाशिये की आवाजों को एक नया बल मिला। एक तरफ कांशीराम ने 'बामसेफ' और 'डी0 एस0 फोर' के रास्ते 1984 ई0 में बहुजन समाज पार्टी का गठन किया। इससे सामाजिक परिवर्तन की मांग और तेज हो उठी। दूसरी तरफ मंडल आयोग की सिफ़ारिशों को लागू किए जाने के विरोध में फ़ासीवादी–साम्प्रदायिक ताकतों ने जनता को धर्म के नाम पर गुमराह किया।

1992 ई0 में अयोध्या में फ़ासीवादी–साम्प्रदायिक पार्टी भाजपा ने बाबरी मस्ज़िद को गिरा दिया। सड़कों पर फासीवादी ताकतों का खुलेआम नंगा नाच हुआ। लोकतंत्र के लिए यह एक खतरनाक संकेत था। मगर उत्तर प्रदेश के विधान सभा चुनावों में जनता ने इन फ़ासीवादीं ताकतों को नकार दिया। बसपा, सपा के गठबंधन से 1993 ई0 में मुलायम सिंह यादव मुख्यमंत्री बने। साहित्य–समाज पर इन सारी घटनाओं का असर बड़ी तेजी से हो रहा था। 80 के दशक में आधुनिक दलित कविता का जो नया उभार देखने को मिलता है उसके पीछे इन सामाजिक–राजनीतिक कारकों का बड़ा हाथ है। इस बारे में निरंजन कुमार कहते हैं: "यह अनायास और मात्र संयोग नहीं है कि 80 के दशक में उभरने वाला हिन्दी दलित साहित्य आंदोलन और कांशीराम द्वारा 'बामसेफ' की स्थापना (6 दिसंबर 1978), डी0 एस0 फोर का गठन (6 दिसंबर 1981) एवं 'बसपा' की स्थापना (14 अप्रैल 1984) समकालीन हैं। उपरोक्त संगठनों ने दलितों को नए तरीके से संगठित करते हुए इनमें अभूतपूर्व जार्गति का संचार किया और दलित चेतना को उभारा जिसने दलित साहित्य साहित्यिक आंदोलन की नींव भी रख दी।"[63]

दलित राजनीति के इस उभार ने दलित साहित्य के नए उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दलित कविता और दलित राजनीति दोनों ने एक दूसरे को प्रेरित–प्रभावित किया। जैसा कि हम जानते हैं, भारतीय राजनीति का चरित्र शुरू से ही जातिवादी रहा है। प्रत्येक जातीय संगठन किसी न किसी राजनीतिक दल से जुड़े होते हैं और प्रत्येक नेता अपनी जाति का भी नेता होता है। ये जातीय संगठन अपने नेताओं के ज़रिये सत्ता पर दबाव डालकर अपनी मांगें मनवाते हैं। सत्ता भी चुनावों में इन जातीय संगठनों का भरपूर इस्तेमाल करती है। हिन्दू समाज जाति प्रथा के बिना जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक जाति सिर्फ़ अपनी जाति के नेता का ही अनुसरण करती है। जातियों के इस चरित्र पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 आम्बेडकर ने कहा था: "जातिप्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है। हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही जनता है। उनका उत्तरदायित्व अपनी जाति तक सीमित है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक ही है। सही व्यक्ति के प्रति (अगर वह उनकी अपनी जाति का नहीं है) उनकी सहानुभूति नहीं होती।... क्या हिन्दू किसी भी महान और अच्छे व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार कर सकते हैं और उसका अनुसरण कर सकते है? यदि कोई महात्मा हो तो उसकी बात अलग है, लेकिन सामान्य उत्तर यही है कि वह किसी नेता का अनुसरण तभी करेगा, जब वह उसकी जाति का हो।"[64]

डॉ0 आम्बेडकर ने यह बात बहुत पहले कही थी। मगर यह बात आज भी एकदम सही है। जातिवाद और बढ़ा है मगर छुआछूत के मिटने (एक हद तक) को ही जातिवाद का खात्मा मानकर चला जा रहा है। मगर सचाई यह है कि आधुनिक कहे जाने वाले इस समाज में जातिवाद और मज़बूत हुआ है। जातिगत शोषण आज भी हो रहा है, बस उसके तरीकों में बदलाव आ गया है। ऐसे समाज में बहुजन समाज पार्टी का उदय दलितों मे नई चेतना जगाने वाला था। इससे दलित कविता को भी एक भावनात्मक सम्बल मिला। दलित राजनीति ने भागीदारी का नारा दिया और ब्राह्मणवाद को एक नई संज्ञा 'मनुवाद' में परिवर्तित कर उसकी आलोचना की। यह परिवर्तित संज्ञा व्यापक स्वीकार्यता के लिए थी। इसमें खास सावधानी यह बरती गई कि ब्राह्मणवाद कहने से किसी जाति विशेष के व्यक्ति नाराज़ ना हों। बहुजन समाज पार्टी अपनी राजनीतिक बिसात बड़ी सावधानी से बिछाई चुनांचे उसने 'तिलक तराजू और तलवार इनको मारो जूते चार' की आक्रामकता को जल्दी ही छोड़ दिया।

दलित कविता शुरूआत से ही क्रान्तिकारी रही। उसने ब्राह्मणवाद की कठोर शब्दों में आलोचना की। व्यापक स्वीकार्यता के लिए राजनीति में जो काम, दलित राजनीति नहीं कर पा रही थी, दलित कविता ने उसे अपने ऐजेण्डे में प्रमुख स्थान दिया। दलित कविता ने खुद ही आन्दोलन का रूप ले लिया। दलित कवि मोहनदास नैमिशराय ने अपनी कविता 'आन्दोलन' में कहा:

"तुम सांमत तो नहीं हो

न ही कोई माफ़िया

फिर तुम्हारे पास केवल शब्द हैं

उन्हीं को तुमने आंदोलन बनाना है

क्रान्ति हथियारों से नहीं

शब्दों से ही आती है।"[65]

दलित कवि शब्द के महत्व को समझ रहे थे। शब्दों को अपने मनमुताबिक अर्थों में ढालकर ही ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति ने अपने शोषण की नींव मज़बूत की थी इसलिए दलित कवियों ने उन्ही शब्दों को अपना हथियार बनाया। दलित कवि ओमप्रकाश बाल्मीकि ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति को चेताते हुए कहते हैं:

"तुम्हारे रचे शब्द

तुम्हें ही डसेंगे साँप बनकर"–[66]

दलित राजनीति को सत्ता की दहलीज़ तक पहुँचने के लिए व्यापक स्वीकृति की जरूरत थी। इसलिए उसने एक तरफ जहाँ दलितों में यह जागरूकता फैलाई कि उन्हें किसी पार्टी का वोट बैंक नहीं बनना है और उन्हें अपने झण्डे के नीचे लामबन्द किया, वहीं दूसरी तरफ उसने 'हाथी नहीं गणेश हैं, ब्रह्मा विष्णु महेश हैं,' के साथ 'ब्राह्मण शंख बजाएगा, हाथी बढ़ता जाएगा' का नारा दिया। बहुजन समाज पार्टी ने विभिन्न जातियों के जातीय सम्मेलन आयोजित कराकर, अन्य जातियों के नेताओं को टिकट देकर अपने लिए स्वीकृति का महौल तैयार करना शुरू किया। बसपा ने देश के 85 प्रतिशत उत्पीड़ितों को 'बहुजन' की संज्ञा दी। इस तरह तमाम राजनीतिक दाँव–पेंच करके 1995 ई0 में मायावती भाजपा से गठबंधन करके उ0 प्र0 की पहली बार मुख्यमंत्री बनीं। मायावती भाजपा के साथ गठबंधन करके तीन बार सूबे की मुख्यमन्त्री बनीं। अब बसपा ने 'बहुजन' को छोड़ कर 'सर्वजन' का नारा दिया। 2007 ई0 के उ0प्र विधानसभा चुनावों में बसपा बहुमत से सत्ता में आई।

दूसरी तरफ दलित कविता साहित्य में ब्राह्मणवाद का सामना कर रही थी। हिन्दी साहित्य के नामवर आलोचकों ने दलित साहित्य के अस्तित्व में होने से ही इन्कार कर दिया। तमाम मुश्किलों से संघर्ष करते हुए दलित कविता ने अपनी राह बनाई। उसने साहित्य–समाज में कुण्डली मारकर बैठे ब्राह्मणवाद, जातिवाद और भाई–भतीजावाद की कड़े शब्दों में आलोचना की। दलित कवि 'मलखान सिंह' ने जाति को 'फटी बन्डी' की

संज्ञा दी। वह जहाँ भी जाते हैं जाति 'फटी बन्डी' की तरह हमेशा साथ रहती है। इस कविता को पढ़कर डा0 आम्बेडकर का कथन याद आता है कि जाति एक ऐसा दैत्य है जो आपके मार्ग में खड़ा है। मलखान सिंह कहते हैं:

"कम्बख्त जाति!

सधे बाज सी निरन्तर

मेरा पीछा करती है।"[67]

दलितों के लिए लोकतन्त्र हितकर है, यह बात साबित हो चुकी है। मगर वह संसदीय ढांचे का वर्तमान लोकतंत्र नहीं है। दलित कविता वर्तमान लोकतंत्र की आलोचना करती है। दलित राजनीति ने भी अपने शुरूआती दौर में असमानता पर आधारित इस लोकतंत्र की आलोचना की। इस लोकतंत्र को दलित राजनीति ने समानता एवं भातृत्व रहित बताया। कांशीराम ने अपने भाषण में ज़ोर देकर कहा था कि: "बहुजन समाज लोकतांत्रिक प्रणाली में विश्वास रखता है। लेकिन बहुजन समाज लोकतांत्रिक प्रणाली को सामाजिक परिवर्तन के लिए सदुपयोग में लाएगा और ऐसा करने से पहले इसमें समानता एवं भातृत्व की भावना जारी करेगा।"[68]

दलित कविता ने भी लोकतन्त्र की कठोर आलोचना की। आज़ादी के इतने साल गुज़र जाने के बाद भी दलित दुनिया शोषण की शिकार है। जातीय उत्पीड़न की घटनाएं लगातार हो रही हैं। दलित महिलाओं के साथ बलात्कार की घटनाओं में बेतहाशा वृद्धि हुई है। दलित आज भी रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि प्राथमिक सुविधाओं से वचिंत हैं। अपनी रिर्पोट 'विश्व सामाजिक स्थिति रिर्पोट 2010' में चौंकाने वाले आंकड़े देते हुए 'संयुक्त राष्ट्र' ने कहा कि भारत में दलित पूरी तरह से हाशिए पर डाल दिये गये हैं। यह सब तथाकथित लोकतंत्र के नाम पर हो रहा है। ऐसे लोकतंत्र को 'गाली' की संज्ञा देते हुए ओमप्रकाश बाल्मीकि कहते हैं:

"जब तक रामसेरी के हाथ में

खड़ांग–खांग घिसटती लौह गाड़ी है

मेरे देश का लोकतंत्र

एक गाली है!"[69]

इतना ही नहीं फरवरी 2010 ई0 में केन्द्रीय कार्मिक और प्रशिक्षण राज्यमंत्री पृथ्वीराज चह्वाण ने लोकसभा में देश की शीर्ष नौकरशाही में विभिन्न समुदायों की मौजूदगी का

आंकड़ा पेश किया तो यह सत्य सामने आया कि देश की शीर्ष नौकरशाही के कुल अट्ठासी पदों में एक भी दलित अफसर मौजूद नहीं है।[70] यह है हमारे लोकतंत्र का सत्य। दलित कविता और दलित राजनीति दोनों ने इस लोकतंत्र को समय–समय पर आड़े हाथों लिया है। इसलिए कांशीराम ने शासन व प्रशासन दोनों में समान भागीदारी की मांग की थी।

दलित राजनीति डॉ0 आम्बेडकर तथा अन्य बहुजन नायकों के प्रतीकीकरण के जरिए दलित जनता तक पहुँची है। ये प्रतीक दलित जनता में आत्मसम्मान की भावना जगाने के साथ साथ उनमें सांस्कृतिक प्रतिरोध का जज़्बा पैदा करते हैं। ब्राह्मणवाद ने अपनी सत्ता संस्कृति स्थापित करने के लिए प्रतीकों का जबरदस्त इस्तेमाल किया है उसने अपने प्रतीकों के जरिये दलितों को हर तरह से गुलामी का जीवन जीने के लिए अभिशप्त कर दिया। पहली बार दलित राजनीति ने दलितों को उनके नायकों से रूबरू करवाया और ब्राह्मणवादी सत्ता–संस्कृति के खिलाफ उन्हें लामबन्द किया। मायावती के जीवनीकार अजय बोस बहुजन समाज पार्टी द्वारा किए गए प्रतीकीकरण के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैः "दिलचस्प बात है कि दलितों को राजनैतिक दृष्टि से सक्रिय करने के लिए बसपा ने दलित ज़िन्दगी की रोजमर्रा की तकलीफ़ों का बढ़ा–चढ़ा कर वर्णन करने के बजाय अतीत के नायक–नायिकाओं, विद्वानों, सन्तों और योद्धाओं की प्रतिमाओं का इस्तेमाल किया। इस दृष्टिकोण से यह ज़ाहिर होता है कि एक पद्दलित समुदाय में उसके वीरतापूर्ण अतीत की स्मृतियां एक बेहतर भविष्य के बारे में नए सिरे से विश्वास पैदा कर देती हैं।"[71]

ये प्रतीक सत्ताशाली इतिहास के बरक्स दलित इतिहास गढ़ रहे हैं। दलित कविता ने भी दलितों में जागरूकता लाने तथा ब्राह्मणवादी व्यवस्था की मुखालफ़त के लिए प्रतीकीकरण का इस्तेमाल किया है। दलित कविता ने एक तरफ पुराने मिथकों एवं प्रतीकों का पुनर्पाठ किया वहीं दूसरी तरफ नए मिथक एवं प्रतीक भी गढ़े। सदियों से गुरू के पद पर आसीन द्रोणाचार्य के मिथक का पुनर्पाठ कर दलित कविता ने उन्हें ब्राह्मणवादी घोषित कर दिया और उसके बरक्स एक नए 'एकलव्य' की परिकल्पना की। मलखान सिंह अपनी *कविता* 'सुनो ब्राह्मण' में द्रोणाचार्य को चुनौती देते हुए उसके बरक्स आज के एकलव्य को पेश करते हैं जो क्रांति की तैयारी कर रहा हैः

"देखो!
बन्द किले से बाहर
झाँक कर तो देखो
बरफ पिघल रही है।

बछेड़े मार रहे हैं फुर्री

बैल धूप चबा रहे हैं

और एकल्व्य

पुराने जंग लगे तीरों को

आग में तपा रहा है।"[72]

मराठी दलित साहित्य एवं राजनीति से हिन्दी दलित कविता व राजनीति ने पर्याप्त सीख ली। हिन्दी दलित कविता ने जहाँ उससे एक नया तेवर प्राप्त किया वहीं राजनीति ने यह सीख ली कि चाहे समझौता करना पड़े, मगर टूटना–बिखरना नहीं है। दलित राजनीति को सत्ता की दहलीज तक पहुँचाता था। कांशीराम के शब्दों में उसे 'गुरू किल्ली' प्राप्त करनी थी चुनांचे उसने कभी समझौते से परहेज़ नहीं किया। बहुजन समाज पार्टी जल्दी ही आक्रामक रूख त्याग कर 'बहुजन से 'सर्वजन' की बात करने लगी। वहीं दलित साहित्य एवं कविता ने शुरूआत से ही आक्रामक रूख अख्तियार कर रखा था। दलित कवि अपनी कविताओं के ज़रिए एक आंदोलन खड़ा कर रहे थे। दलित राजनीति जहाँ 'गुरू किल्ली' के लिए समझौते की राह पर बढ़ रही थी, वहीं दलित कवि–साहित्यकार अपने आन्दोलन में सेंध लगाने वालों से हमेशा सावधान रहे। उन्होंने अपने आंदोलन में किसी गैर दलित की आमद को स्वीकार नहीं किया। जहाँ दलित राजनीति के पास अपनी 'बहुजन' से 'सर्वजन' तक की यात्रा के पक्ष में सत्ता प्राप्ति के लिए विभिन्न समुदायों की स्वीकार्यता अर्जित करने का तर्क था। वह तर्क था, वहीं दलित साहित्य के पास भी किसी गैर दलित की आमद को न स्वीकारने का तर्क था। यह तर्क स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का था।

हम समझते हैं कि दलित साहित्यकारों एवं गैर दलित साहित्यकारों, दोनों के द्वारा इस मसले को बेवज़ह तूल दिया गया। दलित साहित्यकारों को चाहिए कि वह अपने पक्ष में गैर दलित साहित्यकारों द्वारा किए गए लेखन को जाँच कर स्वीकार करें। और गैर–दलित साहित्यकारों को भी बेवज़ह बहस करने की बज़ाय ईमानदारी से दलितो के पक्ष में लेखन करना चाहिए। देर–सबेर ईमानदारी से किए गए लेखन को स्वीकार्यता जरूर मिलेगी। यदि किसी वज़ह से दलित साहित्यकार उसे स्वीकार नहीं भी करते हैं तो दूर–दराज़ के क्षेत्रो में आन्दोलन कर रहे कार्यकर्ता और पाठक ईमानदारी से किए गए उस लेखन को जरूर स्वीकार करेंगे। सवाल है लेखकीय ईमानदारी का वह लेखन मे होनी चाहिए। इस बारे मे दलित चिंतक कंवल भारती का मत है कि: "सहानुभूति का दलित लेखन भी महतवपूर्ण साबित हो सकता है, यदि उसमें क्रांति या परिवर्तन का विचार हो।"[73] बात एकदम वाजिब हैं दूसरी तरफ दलित राजनीति ने 'गुरू किल्ली' प्राप्त करने के लिए ढेरों समझौते किए। बहुजन समाज पार्टी ने जिस पार्टी को 'मनुवादी' की संज्ञा दी, उस पार्टी (भाजपा) से भी

समझौता करने में उसने कभी परहेज नहीं किया। बहुजन समाज पार्टी ने भाजपा के साथ मिलकर सूबे में तीन बार सरकार बनाई। एक दौर ऐसा भी आया कि बसपा की राजनीति को सत्ता की दलित राजनीति करने वाली पार्टी कहा जाने लगा। दलित राजनीति पर लग रहे इन आरोपों का खण्डन करते हुए रमणिका गुप्ता कहती हैं कि: "बहुत से लोग सत्ता में भागीदारी की माँग को ये कहकर बदनाम करते हैं कि ये केवल सत्ता के लिए लड़ रहे हैं, समाज सुधार के लिए नहीं। ये सही भी हो सकता है। लेकिन सबसे बड़ा सत्य क्या ये नहीं है कि ये जातियां जग रही हैं.. सोच रही हैं। पूरी की पूरी जमात, पूरा का पूरा समाज जो सोचता ही नहीं था इसलिए बोलता भी नहीं था, जिसके सोचने पर प्रतिबंध था, वह अगर सोचने लगा है.. अपनी बात कहने लगा है.. तो समाज के बुद्धिजीवियों को खुश होना चाहिए। वे उन्हें विश्वास में लेकर भटकाव से रोक सकते हैं।"[74]

यह एकदम सही है कि दलित जातियों में इतनी चेतना आई है कि अपनी पार्टियों के ज़रिए उन्होंने लगातार सत्ता में भागीदारी की मांग की है। अगर उनमें भटकाव की स्थिति पाई जा रही है। तो यह दलित बुद्धिजीवियों की जिम्मेदारी है कि वे उन्हें ऐसे भटकाव से रोकें। दलित राजनीति के बरक्स दलित कविता खुले तौर पर सामाजिक न्याय एवं समानता की मांग करती रही है। अब यह दलित कविता की जिम्मेदारी है कि यदि दलित जनता या दलित राजनीति भटकाव का शिकार हुई है, तो वह उन्हें इस भटकाव से रोके। उन्हें आगाह करें। दलित कविता जिस क्रांति की बात करती है, वह इस भटकाव को रोके बिना नहीं आने वाली। जय प्रकाश लीलवान 'क्रांति– के बारे में अपनी कविता अब हमें ही चलना हैं में कहते हैं:

"इस सदी के सीने में

अपनी अंगुलियों के पोरों से

संघर्ष के इश्क की खलबली

हमें ही भरनी है

ताकि गर्भ का दशक

क्रांति की सुन्दर बेटी को जन्म दे सके।।"[75]

अगर वाकई में 'कांति की सुदंर बेटी' को जन्म देना है तो दलित कविता को दलित समाज तक व्यापक पहुँच बनानी होगी। उनमें समझदारी लेकर जानी होगी कि ठीक है वह किसी ब्राह्मणवादी पार्टी का वोट बैंक नहीं बनते मगर उन्हें दलित राजनीति के नाम पर भी इस्तेमाल नहीं होना है। खासकर तब, जब वह राजनीति समाज में किसी बड़े फेर–बदल के पक्ष में न दिखाई दे रही हो। देखने में यह आया है कि दलित जनता में दलित कविता

के बरक्स दलित राजनीति की पहुँच ज़्यादा है। दलित राजनीति प्रतीकीकरण के जरिए दलित जनता तक सीधे पहुँची है। जबकि पढ़े–लिखे दलितों (जिनका प्रतिशत बहुत कम है) के अलावा दलित कविता को कोई नहीं जानता। दलित कविता को चाहिए कि वह दूर–दराज़ के ग्रामीण क्षेत्रों में चल रहे दलित आन्दोलनों से संवाद स्थापित करें, और नुक्कड़ नाटक, व अन्य सांस्कृतिक आयोजनों के ज़रिए दलित जनता तक सीधे पहुँचे। इससे दलित कविता और दलित आंदोलन मज़बूत होगा तथा दलित राजनीति पर भी दबाव बनेगा।

दलित राजनीति पर बात करने वाले बुद्धिजीवी दलित राजनीति को ही दलित आंदोलन भी मान लेते हैं। दलित राजनीति और दलित दोनों अलग–अलग है। दलित राजनीति दलित आंदोलन से ही उपजी है और दलित आंदोलन आज भी दूर–दराज के ग्रामीण क्षेत्रो में सक्रिय हैं। दोनों को एक मानने से दिक्कत यह होती है कि अक्सर 'दलित राजनीति भष्ट होती है तो पूरा का पूरा दलित आंदोलन को भ्रष्ट करार कर दिया जाता है। अचरज की बात यह है कि इस मामले में गैर दलित बुद्धिजीवी ही नहीं, दलित बुद्धिजीवी भी भ्रम के शिकार हैं। दलित राजनीति और दलित आंदोलन के फ़र्क को समझने की जरूरत है। आज की दलित कविता, दलित आंदोलन से सवांद क़ायम करके भविष्य की दलित राजनीति को ठीक कर सकती है। हम यह उम्मीद कर सकते हैं और यह उम्मीद बेमानी नहीं है। जैसा कि हम जानते हैं मुक्ति का कोई भी आंदोलन या राजनीति अपने शुरूआती दौर में अस्मितामूलक ही होती है। दलित कविता को चाहिए कि वह दलित आंदोलन से संवाद कायम करके अस्मिता की लड़ाई को अस्तित्व की लड़ाई में बदले। अब समय आ गया है कि छोटी–मोटी माँगों का छोड़कर हम पूरी दुनिया पर अपना दावा पेश करें। इस दुनिया को तमाम उत्पीड़ितों ने बनाया है, इस पर उन्हीं का हक़ है दलित कविता और दलित आंदोलन को मिलकर अपने इस हक पर दावा प्रस्तुत करना चाहिए। पूरे भारत में जहाँ लगातर बेटियों की हत्या हो रही है, यह दलित कविता ही है जो 'क्रांति की बेटी' को जन्म देना चाहती है, बगावत के बेटे को नहीं।

दलित कविता और दलित राजनीति पर एक आरोप यह लगता रहा है कि ये दोनों ही दलितों की आर्थिक समस्याओं को नहीं उठाते और आत्मसम्मान के लिए ही सारी लड़ाई लड़ रहे हैं। दलित कविता की जहाँ तक बात है तो दलित कविता ने आर्थिक सवालों को एक हद तक उठाया है। मगर जिन कवियों ने इस विषय पर कविताएं लिखीं, दलित आलोचना ने उन पर ध्यान नहीं दिया। दरअसल कुछ दलित चिंतक यह मान बैठे हैं कि आर्थिक सवालों का जिम्मा तो मार्क्सवादियों का है। ऐसा नहीं होना चाहिए। गाँव–गिराँव के दलितों की पहली समस्या राटी की है। आपको उस पर बात करनी होगी। दरअसल ऐसा नहीं होने का एक मुख्य कारण दलितों में एक मध्यवर्ग का पैदा होना है। इस मध्य वर्ग की रोटी की समस्या अब दूर हो चुकी है, उन्हें अब सम्मान चाहिए। यह मध्य वर्ग ही दलित साहित्य में सक्रिय है। इस मध्य वर्ग की गाँव–गिराँव वाले दलितों से दूरी बढ़ी है, इसलिए इनका ज्यादा जोर अस्मिता पर है। जबकि जरूरत अस्मिता और अस्तित्व, दोनों

स्तरों पर लड़ाई की है। गाँव–गिराँव के दलितो के सामने मुख्य संकट अस्तित्व का है। उनके अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है। दलित कविता को चाहिए कि वह दलित आंदोलन के साथ मिलकर अस्मिता की लड़ाई को अस्तित्व की लड़ाई में बदले। ऐसा नहीं होता है तो दलित कविता भी मुख्यधारा की कविता की तरह खाए–अघाए लोगों की कविता बनकर रह जाएगी। दलितों के लिए सम्मान के साथ रोटी भी प्रमुख समस्या है। इसलिए आत्मसम्मान के साथ भूख पर भी बात होनी चाहिए। जिन दलित कवियों ने रोटी की समस्या पर ध्यान दिया है, उनमें मलखान सिंह प्रमुख हैं। उनकी बहुत ही मार्मिक कविता 'भूख' हैः

"भूख! आँख खुलते ही तुझे

चौखट पर बैठा देखा है

देखा है कि तुझे

आंगन में पसरा देख

मेरी माँ फूट–फूट रोयी है।"[76]

दलित कविता जब भूख पर बात करती है तो उन कारणों की तह में जाती है, जिसने दलितों को दाने–दाने का मोहताज बना दिया। इसलिए कविता के अगले अंश में मलखान सिंह विद्रोह की बात करते हैं। दलित कविता को उन दलितों पर ध्यान देना चाहिए जिनकी पूरी ज़िंदगी दो जून की रोटी की जद्दोजहद में गुज़र जा रही है।

ऐसा नहीं है कि दलित राजनीति ने दलितों की आर्थिक समस्याओं की तरफ ध्यान ही नहीं दिया। अगर दलित राजनीति सही अर्थों में दलितों का भला चाहती है तो उसे चाहिए कि वह गाँव में आर्थिक तथा सांस्कृतिक, दोनों स्तरों पर काम करे। कुछ लोगों का तर्क है कि दलित राजनीति दलितों को केवल भावानात्मक मुददों में उलझाए रहती है और आर्थिक पहलुओं की तरफ ध्यान नहीं देती। यदि ऐसा है तो दलित राजनीति को आर्थिक पहलुओं पर ज़्यादा ध्यान देना होगा। उन्हें अपने एजेण्डे में प्रमुखता देनी होगी। अपने 5 वर्ष के कार्यकाल में बसपा ने आर्थिक सवालों की तरफ ध्यान दिया है। हालांकि केन्द्र सरकार ने सहयोग नहीं किया, फिर भी बहुजन समाज पार्टी सास्कृतिक और आर्थिक स्तर पर काम किया है। बड़े बदलाव के लिए सत्ता में बने रहना जरूरी है। दलित राजनीति के पास समय है कि वह अपनी रणनीति पर विचार करें तथा दलित सहित, तमाम उत्पीड़ितों के पक्ष में अपने सरोकारों को मज़बूत करे।

दलित कविता धीरे–धीरे ही सही मगर तमाम उत्पीड़ितों को अपने दायरे में समेट रही है। इसमें जाति एक बहुत बड़ा बाधा है। किन्तु तलाशने पर आपको ईमानदार मित्र ज़रूर

मिलेंगे। जय प्रकाश लीलवान जातिहीन समाज की रचना में लगे तमाम कामगारों का आह्वान करते हुए कहते हैं:

"जाति–हीन समाज–रचना के
नए संघर्ष का ताना–बाना बुन रहे
मेरे देश के कामगारों, दर्जियों!
इतना यकीन तो हमें है कि –
इस मौसम की मौत का मौसम भी
आने ही वाला है"[77]

दलित कविता उस नए मौसम का इंतज़ार कर रही है। इसके लिए वह लगातार संघर्ष कर रही है। विरासत में अगर उसे कुछ मिला है तो जुझारू संघर्ष की एक लम्बी परम्परा। अब दलित कविता एक नए तेवर से लैस होकर उस विरसे को आगे बढ़ा रही है। दलित मुक्ति संघर्ष की इस परंपरा में चार्वाक्र, गौतम बुद्ध, सिद्ध–नाथ, कबीर–रैदास, इत्यादि मध्यकालीन शूद्र व अतिशूद्र कवि, ज्योतिबा फूले पेरियार' एवं डॉ0 आम्बेडकर इत्यादि आते हैं। दलित कविता इन सबके विचारों से प्रेरणा लेती है। किन्तु राजनीति में डॉ0 आम्बेडकर' का नेतृत्व प्रखर होने से दलित कविता के केन्द्र में डॉ0 आम्बेडकर का चिंतन है कंवल भारती डॉ0 आम्बेडकर से प्रेरणा लेते हुए मुक्ति संग्राम के आखिरी हद तक जारी रहने का ऐलान करते हैं:

"बाबा तुम मरे नहीं हो
जीवित हो
हमारी चेतना में
हमारे संघर्ष में
जो मुक्ति संग्राम लड़ा था तुमने
वह जारी रहेगा उस समय तक
जब तक कि हमारे मुरझाये पौधों के
हिस्से का सूरज
उग नहीं जाता है।"[78]

दलित कविता और राजनीति बौद्धधर्म में विश्वास करती है। दलित कविता ने जहाँ अपनी विचारधारा को खुले तौर पर ज़ाहिर किया है, वहीं दलित राजनीति यह काम ढपें–टुपें तौर पर कर रही है। बज़ाहिर हम राजनीति की मज़बूरियों को समझ सकते हैं। दलित राजनीति ने बड़ी खामोशी से अपने शासनकाल में बौद्धधर्म से जुड़े प्रतीक स्थलों का निर्माण किया है। इन प्रतीक स्थलों से दलित जनता को प्रेरणा मिलती है। यह भी सच है कि दलितों की आबादी का एक छोटा हिस्सा ही इन प्रतीक स्थलों को देख पाता है, जो शहर से जुड़ा है। दो जून की राटी के जुगाड़ में जद्दोजहद कर रहे गाँव के अधिकांश दलितों की पहुँच इन प्रतीक स्थलों तक नहीं है। हालांकि गाँव में भी बसपा ने अपने शासनकाल में दलित प्रतीकों का निर्माण किया है। मगर दलित राजनीति को गाँव और शहर के फक्र को समझना चाहिए। गाँव में सांस्कृतिक स्तर पर लड़ाई के साथ आर्थिक स्तर पर लड़ाई की भी जरूरत है। वहाँ अस्मिता के सवाल के साथ ही अस्तित्व का सवाल भी है। यदि दलित राजनीति दलितों को अस्मिता के मसले में उलझाए रखना चाहती है तो दलित कविता को इस उलझन को दूर करना होगा। उसे दलितों तक यह समझदारी लेकर जाना होगा कि सवाल अस्मिता का ही नहीं अस्तित्व का भी है । इधर बीच आए दलित कवियों में यह समझदारी विकसित होते हुए दिखाई दे रही है। दलितों की रहनुमाई के नाम पर सिर्फ सत्ता की राजनीति कर रहे नेताओं की आलोचना करते हुए जय प्रकाश लीलवान अपनी कविता 'समय की आदमखोर धुन' में कहते हैं:

"समय अब

हमारे साथ नहीं चलता– कॉमरेड

शायद इसलिए

कि हमारे हो सकने वाले

रहनुमा भी

आजकल अमीरों के आयोजनों में

बची रह गई

झूठन खाने के लिए

सरेआम

आने–जाने लग गए हैं।"[79]

यह अच्छी बात है कि आज की दलित कविता 'समय की आदमखोर धुन' को पकड़ने की कोशिश कर रही है। इसी कोशिश से दलित मुक्ति आंदोलन को एक नई दिशा मिलेगी और भविष्य की राजनीति ठीक होगी। दलित कविता और दलित राजनीति अगर असल में दलितों की मुक्ति चाहती हैं तो उन्हें साफगोई से अपनी प्रतिबद्धता ज़ाहिर करनी होगी। यह हमारी दलितों की कविता है, दलितों की राजनीतिक है तो इनकी कमियों पर उँगली उठाने का हक भी पहले दलितों को ही है।

दलित कविता और दलित राजनीति दोनों ही हिंसा में विश्वास नहीं करतीं। दलित कविता प्रतिपक्ष में दायित्वबोध जगाने की कोशिश कर रही है। लोहे से लोहा कटता है मगर कीचड़ से कीचड़ साफ नहीं होता। इस तथ्य को दलित कविता समझती है इसलिए वह प्रतिपक्ष से सवांद करके समस्याओं को सुलझाना चाहती है। इसके लिए वह हिंसा का सहारा नहीं लेना चाहती। कंवल भारती अपनी कविता 'तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती?' में प्रतिपक्ष से सवाल करते हैं:

"यदि यह विधान लागू हो जाता कि

तुम्हारे जीवन का कोई मूल्य नहीं।

कोई भी कर सकता है तुम्हारा वध

ले सकता है तुमसे बेगार

तुम्हारी स्त्री बहिन और पुत्री के साथ

कर सकता है बलात्कार

जला सकता है घर–बार।

तब, तुम्हारी निष्ठा क्या होती?"[80]

दलित राजनीति भी हिंसा आधारित राजनीति का विरोध करती रही है। वह लोकतांत्रिक तरीके में विश्वास करती है। उसका कहना है कि वर्तमान लोकतंत्र असमानता पर आधारित है और इसे ठीक किया जाएगा। यह समय जल्दी आए!

फिलवक्त दलित कविता और दलित राजनीति में सीधे तौर पर कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। दलित कविता अभी तक दलित राजनीति पर उठे सवालों पर मौन रही है। समय आ गया है कि वह अपने मौन को मुखरता में बदले। दलित राजनीति में यदि कोई कमी दिखाई देती है तो वह उसकी नोटिस ले। देखने में आया है कि राजनीतिक मज़बूरियों के चलते दलित राजनीति जिन मुद्दों पर मौन रही हैं, उन्हें दलित कविता ने प्रमुखता से उठाया है। उसे अन्य मुद्दों को भी उठाना चाहिए। साठ के दशक में दलित कविता का

जो राजनीतिक तेवर था, उसे दलित कविता को फिर से अपनाना चाहिए। दलित कविता को अब राजनीतिक रूख अख्तियार करना चाहिए। दलित कविता मुक्ति की कविता है। साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है, दलित कविता को यह मशाल बनना होगा। हम जानते हैं कि जिसे आज राजनीति में जातिवाद के रूप में देखा जा रहा है, असल में वह 'जाति का राजनीतिकरण'[81] है दलित कविता व राजनीति को यह तय करना होगा कि 'जाति का राजनीतिकरण' सिर्फ कुछ खास जातियों तक सिमट कर न रह जाए। इसलिए दलित कविता व राजनीति को अन्य उत्पीड़ित समुदायों से संवाद कायम करना चाहिए। क्योंकि अन्य उत्पीड़ित समुदायों का भी राजनीतिकरण हो रहा है। ये तमाम उत्पीड़ित सुमदाय इस राजनीतिकरण का उपयोग करके भविष्य में बड़ा आंदोलन खड़ा कर सकते हैं।

हम जानते हैं कि आज जिसे दलित राजनीति की कमी या सीमा बताया जा रहा है, वह सिर्फ दलित राजनीति की कमी या सीमा नहीं है। दरअसल वर्तमान लोकतांत्रिक पद्धति में प्रचलित मुख्यधारा की राजनीति में ही खोट है। ये चीजें वही से आ रही हैं। इस पद्धति से इससे बेहतर राजनीति नहीं हो सकती। मगर इसका यह मतलब नहीं कि इससे बेहतर राजनीति हो ही नहीं सकती। दलितों में जो जातिवाद है, वह उच्चवर्णीय हिन्दुओं के यहाँ से ही आया है। इसका यह मतलब नहीं कि दलित इस समस्या से लड़ेंगे ही नहीं। आज दलित साहित्य में दलितों में फैले जातिवाद पर बात हो रही है। हम उम्मीद कर सकते हैं कि यह समस्या दूर हो जाएगी। इसी तरह दलित राजनीति की जो कमी या सीमा दिखाई दे रही है, दलित कविता को उस पर बात करनी चाहिए। हम जानते हैं कि यह प्रथम दौर की राजनीति है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं बनने वाला, मगर इससे आगे आने वाली राजनीति ठीक होगी। इसमें दलित कविता को अपनी निर्णायक भूमिका निभानी होगी। दलित कविता को यह तय करना होगा कि वह सत्य की कविता है। या सत्ता की। ठीक इसी तरह दलित राजनीति को भी ज़ाहिर करना होगा कि वह जनता की राजनीति कर रही है या सत्ता की। दलित कविता अपनी निर्णायक भूमिका को निभाने की तैयारी कर रही है। जय प्रकाश लीलवान 'राष्ट्र' का अह्वान करते हुए कहते हैं:

"इसलिए

ओ मेरे राष्ट्र

अब चला जाए

चला जाए

कि चलना अब

ज़रूरी हो गया है

81

साथियों

अब लड़ा जाए

लड़ा जाए

कि लड़ना अब

जरूरी हो गया है।।"[82]

अब ऐसी ही लड़ाई की ज़रूरत है। दलित कवि इस बात को महसूस कर रहा है। उसे इस बात को तमाम उत्पीड़ितों तक ले जाने की जरूरत है। इसलिए वह पूरे राष्ट्र का आह्वान कर रहा है । यह लड़ाई तमाम उत्पीड़ितों के लिए है। दलित राजनीति को इस लड़ाई में तमाम उत्पीड़ितों और संभावित मित्रों के साथ हिरावल दस्ते में शामिल होना चाहिए। देर–सबेर ऐसा होना भी है, क्योंकि लड़ाई तभी संभव है और मुक्ति भी तभी होगी। इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक दलित कविता और दलित राजनीति में गहरा सम्बन्ध है। दलित राजनीति ने दलित कविता को प्रेरित–प्रभावित किया है, अब दलित कविता की जिम्मेदारी है कि वह दलित राजनीति की कमियों की नोटिस ले और उसे प्रेरित करें। कंवल भारती के शब्दों में' "साहित्य के क्षेत्र से आशा की जा सकती है कि वह अपनी भूमिका को समझेगा और राजनीति को दिशा देगा।"[83]

यह बात दलित राजनीति को भी समझनी चाहिए। हम जानते हैं कि राजनीति में हितों का स्थान सर्वोच्च होता है और उसके लिए ढेरों समझौते करते पड़ते हैं। मगर वे हित किसके हैं यह बात ज़्यादा महत्वपूर्ण होती है। वे हित चन्द नेताओं के हैं या तमाम उत्पीड़ित जनता की। एंगेल्स ने कहा था 'जो शासक वर्ग के लिए कल्याणकारी हो, उसे जनता के लिए भी कल्याणकारी होना चाहिए' । इसी से सत्ता की प्रतिबद्धता तय होती है।

4.5 दलित कविता व दलित राजनीति : मुक्ति का महाआख्यान

अगरचे दलित कविता और दलित राजनीति ने एक लम्बा रास्ता तय कर लिया है। तमाम विवादों–विरोधो के बीच उन्होंने खुद को स्थापित किया है। इससे दलितों की स्थिति में परिवर्तन आया है। उनमें आत्मसम्मान का भाव जगा है। और वे सांस्कृतिक मुखालफ़त के लिए तैयार हुए हैं। चुप रहने वाले दलित सोचने–समझने लगे हैं। उन्होंने जान लिया है कि कविता और राजनीति को सोचने–समझने के साथ–साथ परिवर्तन का ज़रिया भी बनाया जा सकता है। इससे सत्ता के साहित्य तथा तंत्र में खलबली मची हुई है। मुख्यधारा इस बात को स्वीकार नहीं कर पा रही है कि हज़ारों साल तक उनकी सेवा करने वाले, दुत्कार सहने वाले दलित आज आंख तरेर कर अपना हक़ मांग रहे हैं। चुनांचे, दलित कविता, आंदोलन तथा राजनीति पर तमाम तरह के आरोप लगाए जा रहे हैं दलितों पर होने वाले अत्याचारों में लगातार इज़ाफ़ा हो रहा है। मार्क्स के वर्ग संघर्ष की आग और डॉ0 आंबेडकर की क्रांति–प्रतिक्रांति का दौर खत्म होने के बज़ाय और तेज़ हुआ है। दलित कविता और दलित राजनीति को इसमें और तेज़ी लानी होगी। इसी से आगे का रास्ता बनता है। वर्ग संघर्ष की आग और क्रांति–प्रतिक्रांति का दौर और तेज़ होकर भविष्य में मुक्ति का महाआख्यान रचेगा।

दलितों ने अपनी तमाम घृणा को भुलाकर प्रतिपक्ष से संवाद करने की लगातार कोशिशें की हैं। मगर जवाब में उन्हें ही जातिवादी और अलगाववादी कहा गया। इस पर एक दलित की क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए? ओमप्रकाश बाल्मीकि कहते हैं:

"एक तुम हो

जिस पर किसी चोट का

असर नहीं होता।"[84]

डॉ0 आंबेडकर लम्बे समय तक इस बात का इंतज़ार करते रहे कि उच्चवर्णीय हिन्दुओं की सोच में बदलाव आयेगा और वे अछूतों को समानता का दर्ज़ा देगें। शुरूआती दौर में डॉ0 आंबेडकर यही सोच रहे थे। चुनांचे, 25 सितम्बर 1927 को महाड़ सत्याग्रह के अवसर पर उन्होंने कहा था कि: "यदि हमें मानव प्राणी और नागरिक के रूप में अधिकार नहीं मिलते, तो हमें हमेशा के लिए इसी पतित अवस्था में रहना पड़ेगा। यदि हम समस्त हिन्दुओं को केवल एक जाति में एकताबद्ध करने में सफल हो जाते हैं, तो हम सामान्यतः भारत राष्ट्र की और विशेष रूप से हिन्दू समुदाय की महान सेवा करेंगे। यह वर्तमान जातिभेद ही हमारी साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय दुर्बलता का मुख्य कारण है। हमारा आन्दोलन समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के लिए है।"[85]

अफ़सोस ऐसा न हो सका। प्रथम गोलमेज सम्मेलन तक स्थिति साफ़ होने लगी थी और पूना पैक्ट (1932) तक सब कुछ स्पष्ट हो गया। पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दू समाज अगर इतिहास है, तो जाति उसका भूगोल। इतिहास (हिन्दू समाज) अपने भूगोल (जाति) को किसी हाल में छोड़ना नहीं चाहता था। ज़िंदगी भर इस इतिहास–भूगोल से दो–दो हाथ करने वाले डॉ0 आंबेडकर ने 1935 ई0 में हिन्दू धर्म को त्यागने की घोषणा की। अन्ततः 1956 ई0 में उनके साथ, उनके लाखों समर्थकों में बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। तब से लेकर आज तक दलित यह सोचते रहे कि उच्चवर्णीय हिन्दुओं की मानसिकता कभी तो बदलेगी। मार्क्सवादी साहित्य–आंदोलन व राजनीति से भी दलितों को काफ़ी उम्मीदें थीं। भारत में मार्क्सवाद को जिन तबकों का विरोध करना था, वहीं उसके सिरमौर बन गये। अन्ततः समाज में जातिवाद तथा असमानता लगातार बढ़ी है। मगर सत्ता व उसके साहित्य द्वारा एक हद तक छुआछूत मिटने को ही जातिवाद का ख़ात्मा कहकर प्रचारित किया जा रहा है। जबकि जातिवाद की भावना लोगों में बढ़ती जा रही है। इसलिए बात जाति के ख़ात्में की होनी चाहिए। डॉ0 आंबेडकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि रोटी–बेटी के सम्बन्ध से ही जातिवाद का नाश हो सकता है। अस्पृश्यता की बात तो महात्मा गाँधी कर रहे थे, जो अन्ततः वर्ण–जाति को बचाए रखना चाहते थे। उन्हें वर्ण–जाति व्यवस्था में कोई बुराई नज़र नहीं आती थी। जाति उन्मूलन की बात डॉ0 आंबेडकर कर रहे थे। अस्पृश्यता के मिटने से जातिवाद नहीं मिट जाएगा, दलित कविता इसे समझ रही है। वह रोटी–बेटी के सम्बन्ध पर ज़ोर दे रही है। जय प्रकाश लीलवान ऐसे छद्म लोगों की ख़बर लेते हैं, जो रोटी–बेटी के सम्बन्ध क़ायम किये बिना जाति के ख़ात्में की बात करते हैं:

"और वैसे भी इस देश में
कितनों के
हुक्के–पानी
और रोटी–बेटी के
सम्बन्ध एक हो सके हैं
इसे आपको
बताने कहाँ जरूरत हैं"[86]

अगर लोगों के मन से जाति की भावना दूर नहीं होगी, तो मुक्ति के महाआख्यान की बात बेमानी होगी।

फ़िलवक़्त अस्मिताओं को दौर है। हाशिए की अस्मिताओं ने साहित्य से लेकर समाज, राजनीति तक में अपना दावा पेश किया है। सिर्फ दावा ही पेश नहीं किया है बल्कि वे

अपने अधिकारों को लेकर सजग हुए हैं। इस लिहाज से यह समाज में बड़े बदलाव का संकेत है। आज स्त्री, दलित, आदिवासी, मज़दूर, किसान और अल्पसंख्यक समुदाय पहले के साहित्य व इतिहास चिंतन को ख़ारिज कर रहें हैं तथा उसके बरक्स अपना साहित्य और इतिहास गढ़ रहे हैं। दूसरी तरफ सामाजिक परिवर्तन विरोधी शक्तियां भी व्यापक रूप से सक्रिय हुई हैं। हाशिए की अस्मिताओं ने पूरी दुनिया में बराबरी और न्याय का दावा पेश किया है। चुनांचे इनके विरोधी वैश्विक परिदृश्य में इनके दमन का ताना–बाना बुन रहें हैं। अस्मिता के नाम चल रहे हाशिए के इन आंदोलनों को कुचलने की लगातार कोशिशें हो रही हैं। दूसरी तरफ यह कोशिश भी जारी है कि ये तमाम अस्मिताएं मिलकर कहीं अस्तित्व की लड़ाई में ना बदल जाएं। दुनिया भर की यथास्थितिवादी सत्ताएं एक तरफ इन अस्मितावादी आंदोलनों को छिन्न–भिन्न करने का प्रयास कर रहीं हैं, वहीं दूसरी तरफ उनकी भरसक कोशिश है कि इन तमाम आंदोलनों में कोई संवाद क़ायम न हो। भविष्य में ये तमाम अस्मिताएं ही मिलकर अस्तित्व की लड़ाई लडेंगी और मुक्ति का महाआख्यान रचा जाएगा। देर–सबेर होना तो यहीं है।

ब्राम्हणवाद और पूंजीवाद के आकाओं को यह डर सताने लगा है। इसलिए उनकी सक्रियता लगातार बढ़ रही है। स्त्री को लगातार रसोई और बिस्तर के भूगोल में समेटने की कोशिशें जारी है। उच्च तबके की स्त्री के जीवन नें आए तथाकथित बदलाव को स्त्री समाज में आए बदलाव के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। सचाई तो यह है कि उच्च तबके की स्त्रियां जो कपड़े पहनती हैं, उन्हें वे अपनी मर्ज़ी से नहीं बल्कि बाज़ार की मर्ज़ी से पहनती हैं। यह सोच धीरे–धीरे मध्यवर्ग में भी आ रही है। पूंजीवाद ने स्त्री को एक उत्पाद बनाकर रख दिया है। तनाम विज्ञापनों में स्त्री देह का उपयोग हो रहा है। एक डियोड्रेन्ट का विज्ञापन आता है, जिसमें एक पुरूष किसी ख़ास ब्राण्ड का डियोड्रेन्ट लगाता है और उसकी मादक खुशबु से बहुत सारी लड़कियाँ उसे चूमने के लिए दौड़ पड़ती है। बाज़ार और आधुनिकता ने क्या बना दिया है स्त्री को? जैसे स्त्री देह के अलावा कुछ नहीं। स्त्री की यही छवि गढ़ी जा रही है। दूसरी तरफ तमाम स्त्रियां अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही हैं। इन दोनों दुनियाओं के सच को समझना ज़रूरी है। एक तरफ फैशन परेड़ों और रेव पार्टियों में बिकनी पहनकर इठलाती स्त्री है, तो दूसरी ओर आन्दोलन कर रही स्त्री। दोनों ही जगहों पर स्त्री का शोषण हो रहा है। फ़र्क़ यह है कि एक उसे अपने अधिकार तथा आज़ादी समझकर जी रही है, तो दूसरी उसके प्रतिरोध में चीख़ रही है।

इनके अलावा एक तीसरी स्त्री भी है, जो इन दोनों से अनजान है और वह खेतों–मिलों में काम कर रही है। सत्ता और संस्कृति के दलाल आज भी नैतिकता की दुहाई देते घूम रहे हैं। दलित कविता इन सारी चीज़ों की नोटिस ले रही है। ओमप्रकाश बाल्मीकि अपनी कविता संस्कृति बनाम सैक्स में कहते हैं:

"और पंचसितारा होटल के जश्न में

थक कर सो जाती है तार–तार होती

नर्तकी

बार बालाएं

लो फिर आ गए हैं संस्कृति के रखवाले

सैक्स स्वामी से

गलबहियां करते हुए

नए नारों और नए चेहरों के साथ"[87]

आज की दलित कविता इन नए नारों और नये चेहरों को बेहतर ढंग से पहचान रही है। इस पहचान को वह दुनिया की तमाम औरतों से साझा करना चाहती है। मगर इसमें भी जातिवाद की अभेद दीवार आड़े आ जाती है। चुनांचे दलित कविता औरत–औरत के फ़र्क़ को भी बखूबी समझती है। रजनी तिलक अपनी कविता 'औरत–औरत में अंतर है', में इसी फ़र्क़ को बयान करती हैं:

"एक सताई जाती है स्त्री होने के कारण

दूसरी सताई जाती है स्त्री और दलित होने पर

एक तड़पती है सम्मान के लिए

दूसरी तिरस्कृत है भूख और अपमान से

...औरत औरत में भी अंतर है।"[88]

पूंजीवाद ने अपने शोषण के तरीके को बदला है। आज वह तथाकथित 'भूमण्डलीकरण' और 'ग्लोबल विलेज' के नाम पर शोषण का नया औज़ार लेकर आया है। एक तरफ दुनिया की लगभग 85 प्रतिशत आबादी भुखमरी और शोषण का शिकार है, तो दूसरी तरफ खाए–अघाए 15 प्रतिशत लोग। यह भूमण्डलीकरण इन्हीं 15 प्रतिशत लोगों का है। प्राकृतिक संसाधनों की लूट के लिए यही तबका अब दुनिया को ग्लोबल विलेज बनाने पर आमादा है। इसके नाम पर आदिवासियों की संस्कृति पर लगातार हमले हो रहे हैं। उनके जल–जंगल–ज़मीन और जीवन से उन्हें बेदखल किया जा रहा है। 'स्पेशल इकोनॉमिक जोन' के नाम पर आदिवासियों और किसानों को उजाड़ा जा रहा है। अगर वे विरोध करते हैं, तो उन्हें 'ऑपरेशन ग्रीन हंट' के नाम पर मारा जा रहा है। देश में किसान लगातार आत्महत्याएं कर रहे हैं। मज़दूर भी तिल–तिल कर जिन्दगी गुजार रहे हैं। किसी भी

मज़दूर–किसान–आदिवासी–दलित–छात्र इत्यादि को (अगर वह सत्ता का विरोध करे) कभी भी माओवादी–नक्सली कहकर मारा जा सकता है। सांप्रदायिक–फासीवादी ताकतें एक नए तरीके से उभर रहीं हैं। अल्पसंख्यक समुदा पर लगातों हो रहें है। मुस्लिमों कों आंतकवादी करार देकर, सत्ता द्वारा उनकी प्रायोजित हत्याएं करवायी जा रहीं है। छात्र संघ पर सत्ता का शिकंजा कस रहा है। यह सब तथाकथित लोकतंत्र के नाम पर हो रहा है।

आज ब्राम्हणवाद ने पूंजीवाद के साथ मिलकर शोषण को बारीकी दी है। आगे बढ़ते दलित मजलूम सत्ता को फूटी आँख नहीं सुहा रहे हैं। इन सब संकटों के बीच से दलित कविता और दलित राजनीति अपनी राह बना रही है। मगर उनकी मंज़िल अभी काफी दूर है। इतना तय हैं कि अगर दलित मुक्त होना चाहते है, तो वे अकेले मुक्त नहीं हो सकते। उन्हें अन्य उत्पीड़ित तबकों को भी साथ लेना होगा। दलित कविता इसी तरफ बढ़ रही है। आज वह उत्पीड़ित जनता को सम्बोधित कर रही है। अगरचे इसमें दिक्कतें आ रही है मगर वह उत्पीड़ितों से संवाद कायम करने की कोशिश कर रही है। जय प्रकाश लीलवान अपने 'अनाम श्रोताओं' को सम्बोधित करते हुए कहते हैंः

"मेरे अनाम श्रोताओं

मैं तुम्हारे पास तक पहुंचना चाहता हूँ

तुम्हारा घर भी

मालुम है मुझे

मगर मेरे रास्ते में खड़ा गुण्डा

मुझे तुम तक

आने नहीं दे रहा है

मेरे आने का रास्ता

तैयार करो दोस्तों"[89]

यह रास्ता तमाम उत्पीड़ितों को मिलकर बनाना होगा। इसी रास्ते पर चलकर एक दिन तमाम मजलूम मुक्ति का महाआख्यान रचेगें। ठीक है, जाति इस रास्ते में बहुत बड़ा रोड़ा है, मगर जाति यर्थाथ नहीं है। उसे सत्ता द्वारा बनाया गया है। कोई भी सत्ता जो सिर्फ सत्ता में बने रहने के लिए राजनीति करती है, वह विभाजन किए बगैर जीवित नहीं रह सकती। चुनांचे सत्ता जनता पर छद्म चेतना लादती है। वह उन्हें जाति, वर्ग, लिंग और नस्ल इत्यादि खाँचों में विभाजित कर देती है। इसी क्रम में भारत में वर्ण–जाति व्यवस्था

की नींव रखी गई। कोई भी चेतनाशील मनुष्य या समुदाय इस सवाल पर जोर न दे इसलिए इसे बार–बार उलझाया गया। वर्णों से जातियां बनी, जातियों में उपजातियां और उपजातियों में भी उपजातियां बना दी गईं। जातिवाद मानवता के विकास में बाधा है इसलिए इसे ख़त्म होना चाहिए। जाति यर्थाथ नहीं बल्कि सत्ता की निर्मित है और इस निर्मित को तोड़ना होगा। ब्राम्हणवाद ने तमाम छद्म चेतनाएं गढ़कर समाज को विभाजित किया है। आज यही काम पूंजीवाद भी कर रहा है। इसलिए इसे समझकर तोड़ना ज़रूरी हो गया है। आज की दलित कविता इस तथ्य को भी समझ रही है। जय प्रकाश लीलवान कहते हैं:

"पूंजीवाद का समय
कुछ ऐसा होता है
कि इसमें
छद्म चेतनाएँ घड़ने के
तरीकों पर
अनुसन्धान कराए जाते हैं
ताकि
मनुष्यों के समाज को
अरूप
और अनाम भीड़ में
बदला जाता रहे।।"[90]

इस छद्म चेतना के सच को जनता तक लेकर जाने की ज़रूरत है। दलित कविता इसी ज़रूरत पर ज़ोर दे रही है। कैसे भी हो सत्ता द्वारा की गई जाति की इस निर्मिति को तोड़ना ही होगा। नहीं तो आज आंदोलित विभिन्न अस्मिताएं भविष्य में एक बेहतर स्थिति में तो पहुँच सकती है मगर जहाँ तक सवाल मुक्ति के महाआख्यान का है, वह सिर्फ़ सवाल ही बनकर रह जाएगा। चुनांचे जरूरी है कि तमाम अस्मिताएं सत्ता द्वारा पैदा किए गए इन विभाजनों को समझें। इस छद्म चेतना की निर्मिति को तोड़कर उत्पीड़ितों का एक साझा मंच तैयार करें। आज की दलित कविता इस दिशा में आगे बढ़ रही है। अन्य अस्मितावादी आंदोलनों को चाहिए कि वे आगे बढ़कर उसका सहयोग करें तथा उसे विश्वास में लें। एक संगठन बनाकर यथास्थितिवादी ताकतों को घेरे में लें। दलित कविता

उत्पीड़ितो के संगठन के निर्माण पर जोर दे रही है। अन्य उत्पीड़ित समुदायों को आगे बढ़कर इसमें भागीदारी करनी होगी। दलित कविता अपने सम्भावित साथियों का आह्वान कर रही है:

"और यदि मैं
सहीं हूँ
तो फिर तुम्हें भी
इन गलत जगहों से
बाहर आकर
अब मैदानों के
सीधे मोर्चों पर
आ जाना चाहिए।"[91]

दलितों ने सत्ता की सचाई को बेहतर ढंग से समझा है। अपनी इस समझदारी को वे दूसरे उत्पीड़ित समुदायों से साझा करना चाह रहें है। अन्य उत्पीड़ित समुदायों को भी इस सचाई को समझकर आगे बढ़ना होगा। दलित कविता शोषण के हर तरीके को पहचान रही है। आज शोषण की बारीकी बढ़ी है, और दलित कविता उसी बारीकी को पकड़ने की कोशिश कर रही है। वह ब्राम्हणवाद और पूंजीवाद के गठजोड़ की हकीकत से भी परिचित है। इसलिए वह पुरज़ोर शब्दों में उसका विरोध कर रही है। दलित कविता न तो जातिवादी है और न ही अलगाववादी। जिस तबके ने हजारों साल तक जाति की प्रताड़ना सही है, जाति पर वह बहस नहीं करेगा तो कौन करेगा? वास्तव में यह भावना का नहीं बल्कि खुरदुरे यर्थाथ का मामला है। कोई भी तबका अगर मुक्ति की बात करता है, तो उसे इस खुरदुरे यर्थाथ से जूझना ही होगा। दलित अब इस तथ्य को समझने लगा है।, उसे मालुम है कि:

"बेगार चाहे चिलम थमा कर ली जाय
या लाठी दिखाकर
दोनों में कोई बुनियादी फर्क नहीं है।"[92]

उत्पीड़ित समुदायों को शोषण के नये व बारीक तरीकों को समझना होगा। दलित कविता अब पूरी तरह राजनीतिक होती जा रही है। चूंकि वह मुक्ति की कविता है और मुक्ति की

कविता राजनीतिक ही होती है। दलित कविता ने इस बात समझा है कि सत्ता विभाजन करके ही जीवित रह सकती है। इसलिए वह हर प्रकार के विभाजन के खिलाफ है। ओमप्रकाश बाल्मीकि विभाजन की इसी सत्यता को बयान करते हैः

"पृथ्वी बंटी रहे खंड–खंड में

ताकि,

चलता रहे उनका हुक्म"[93]

दलित कविता मुक्ति का महाआख्यान रचने की तैयारी कर रही है। उसने जातिवाद समेत हर तरह की असमानता को अपने निशाने पर लिया है। वह समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व पर आधारित समाज का निर्माण करने के लिए प्रतिबद्ध है। उसकी इस मुहिम से सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलन को बल मिला है। इन कविताओं से आन्दोलन में एक गति, एक पैनापन आता है। दलित कविता की तरह दलित राजनीति को भी अपने ऐजेण्डें में साफगोई लानी होगी। वैसे यह भी सच है कि मुख्यधारा की राजनीति द्वारा दलित राजनीति को बदनाम भी किया जाता है। उसे बेवज़ह के विवादों में उलझाया जाता है। मुख्यधारा की राजनीति दलित राजनीति द्वारा कराये जा रहे कामों में अड़ंगा डालती है। दलित राजनीति को चाहिए कि वह इन सब परेशानियों से जूझते हुए अपने सामाजिक परिवर्तन के ऐजेण्डे पर आगे बढ़े। यदि इसमें कोई दिक्कत आती है, तो दलित कविता को उसे दिशा देनी चाहिए। दलित को अपने 'बहुजन से सर्वजन' के ऐजेण्डे में पारदर्शिता लानी चाहिए। बज़ाहिर दलित कविता व दलित राजनीति ने जाति पर करारी चोट की है। इसे और तेज़ करने की जरूरत है। दलित कविता व दलित राजनीति को समाजिक परिवर्तन के रास्ते पर चलकर भविष्य में मुक्ति का महाआख्यान रचना है। इसमें तमाम उत्पीड़ित तबकों की भागीदारी भी सुनिश्चित करनी होगी। तमाम उत्पीड़ित तबकों को मुक्ति की इस मुहिम में आगे बढ़कर भागीदारी करनी चाहिए। दलित कविता इसके लिए उनका आह्वान कर रही है। मोहनदास नैमिशराय ऐलान करते हैंः

"मेरे दोस्तों

एक हो जाओ

अभी भी समय है

तुम्हें,

आने वाली पीढ़ी के लिए

क्रांति का दस्तावेज लिखना है।"[94]

यहाँ क्रांति सम्पूर्ण उत्पीड़ितों के सन्दर्भ में है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1 त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्ड धूर्तनिशाचराः।
जर्भरी तुर्करीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।।
देखिएः प्रो0 उमाशंकर शर्मा ऋषि – हिन्दी सर्वदर्शन संग्रह, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी–1, संस्करण–2006, पृष्ठ संख्या–21

2. प्राथमिक स्रोतः स0 राहुल सांकृव्यायन– विनयपिटक

द्वितीयक स्रोतः हरिनाराण ठाकुर–दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दूसरा संस्करण–2010, पृष्ठ–184

3. देखिएः आचार्य रामचंद्र शुक्ल–हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008 संस्करण, पृष्ठ संख्या–33

4. स0ः माता प्रसाद–हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण–2008, पृष्ठ संख्या–54

5. वही, पृष्ठ संख्या–54

6. वही, पृष्ठ संख्या–56

7. वही, पृष्ठ संख्या–56

8. हरिनारायण ठाकुर–दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ संख्याः 205–206

9. स0ः डॉ0 श्यामसुंदर दास– कबीर ग्रंथावली, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली,

प्रथम संस्करण–2008, पृष्ठ संख्या–145

10. वही, पृष्ठ संख्या–145

11. स0ः माता प्रसाद–हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, पृष्ठ संख्या–65

12. स0ः डॉ0 श्यामसुंदर दास– कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ संख्या–145

13. स0ः माता प्रसाद–हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा, पृष्ठ संख्या–65

14. हजारी प्रसाद द्विवेदी– हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2007 संस्करण, पृष्ठ संख्या–66

15. कंवल भारती– सन्त रैदासः एक विश्लेषण, बोधिसत्व प्रकाशन रामपुर (उ0 प्र0) द्वितीय संस्करण–2000, पृष्ठ संख्या–168

16. देखिए : मुक्तिबोध–मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू (आलेख) स0: गोपेश्वर सिंह–भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, भारतीय प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, 2009 संस्करण, पृष्ठ संख्या–111

17. इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छायी रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग की क्या था? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या–61

18. हजारी प्रसाद द्विवेदी– हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2008 संस्करण, पृष्ठ संख्या–15

19. स्वंय डॉक्टर ग्रियर्सन ने लिखा है कि "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के उपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता...।" इत्यादि।

    हजारी प्रसाद द्विवेदी–हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या–58

20. हजारी प्रसाद द्विवेदी– हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ संख्या–15–16

21. हजारी प्रसाद द्विवेदी– हिन्दी साहित्य का उदृभव और विकास, पृष्ठ संख्या–59

22. राजेन्द्र प्रसाद सिंह– हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, प्रथम संस्करण–2009, प ृष्ठ संख्या–69

23. कंवल भारती–दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण–2007 पृष्ठ संख्याः 52–53

24. वीर भारत तलवार– हिन्दू नवजागरण की विचारधाराः सत्यार्थ प्रकाश की समालोचना का एक प्रयास, सचिव, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान राष्ट्रपति निवास शिमला, प्रथम संस्करण–2001 पृष्ठ संख्या–97

25. प्राथमिक स्रोत प्रसन्न कुमार चौधरी, श्री कान्त, स्वर्ग पर धावाः बिहार में दलित आंदोलन, द्वितीयक स्रोतः हरिनारायण ठाकुर–दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, दूसरा संस्करण–2010, पृष्ठ संख्या–405

26. कंवल भारती– स्वामी अछूतानन्द जी 'हरिहर' संचायिता, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2011, पृष्ठ संख्या–128

27. वही, पृष्ठ संख्या–145

28. प्राथमिक स्रोतः स्वामी शंकरानन्द, अयोध्यानाथ ब्रह्मचारी– शंकरानन्द भजनावाली द्वितीयक स्रोतः कंवल भारती–दलित कविता का संघर्ष, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण–2012, पृष्ठ संख्या–59

29. वही, पृष्ठ संख्या–131

30. प्राथमिक स्रोतः महाश्या रूपचन्द–रूपचन्द भजनावाल

    द्वितीयक स्रोतः वही, पृष्ठ संख्या–72

31. इस पुस्तिका के अन्तिम पृष्ठ प बिहारी लाल हरित द्वारा रचित अन्य पुस्तकों की विज्ञापित सूची से पता चलता है कि 1946 तक डॉ0 आंबेडकर के बिचार को लेकर उनकी दो पुस्तकें और भी छप चुकीं थीं– 'अछूतों का बेताज बादशाह' और 'अछूतों का पिस्तौल'। ये पुस्तकें उपलब्ध नहीं हो सकीं।

    वही, पृष्ठ संख्या–86

32. प्राथमिक स्रोतः अछूतों को पैगम्बर, द्वितीयक स्रोतः वही, पृष्ठ संख्या–86

33. वही, पृष्ठ संख्या–89

34. प्राथमिक स्रोतः सं0 माता प्रसादः हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा द्वितीयक स्रोतः वही, पृष्ठ संख्या–108

35. सं0– कैलाश चन्द्र सेठ, श्रीमती भारती नरसिंह्मन– बाबा सहेब डॉ0 आम्बेडकर सम्पूर्ण बाड्.मय खंड–5 डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2011, पृष्ठ संख्याः 106–107

36. सं0 रामविलास शर्माः रागविराग, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 2008, पृष्ठ संख्या–137

37. प्राथमिक स्रोतः भीम चेतावनी, द्वितीयक स्रोतः कंवल भारती– हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, पृष्ठ संख्या–28

38. प्राथमिक स्रोतः शोषित पुकार, द्वितीयक स्रोतः वही, पृष्ट संख्या–31

39. सं0 कँवल भारती– चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु रचना–संचयन, स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण–2012, पृष्ठ संख्या–251

40. वही, पृष्ठ संख्या–248

41. कँवल भारती– हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, पृष्ठ संख्या–34

42. प्राथमिक स्रोतः मुक्तिप्रसंग– राजकमल चौधरी

द्वितीयक स्रोतः अच्युतानन्द मिश्र– नक्सलबाड़ी आंदोलन और हिन्दी कविता, संवेद फाउण्डेशन, जून 2009 संस्करण, पृष्ठ संख्या–16

43. सं0 कँवल भारती– चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु रचना संचयन, पृष्ठ संख्या– 257

44. सं0–श्री ओम प्रकाश कश्यप–बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय खण्ड–16, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान नई दिल्ली, अगस्त 2000 संस्करण, पृष्ठ संख्या–221

45. सं0 कंवल भारती– चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु संचयन, पृष्ठ संख्या–249

46. प्राथमिक स्रोत– बहुजन हंकार

द्वितीयक स्रोतः वही, पृष्ठ संख्या–118

47. प्राथमिक स्रोतः शोषित पुकार

द्वितीयक स्रोतः वही, पृष्ठ संख्या–119

48. वही, पृष्ठ संख्या–120

49. वही, पृष्ठ संख्या–121

50. वही, पृष्ठ संख्या–122

51. वही, पृष्ठ संख्या–122–123

52. प्राथमिक स्रोत– बहुजन हुंकार

द्वितीयक स्रोतः वही, पृष्ठ संख्या–124

53. वही, पृष्ठ संख्या–124

54. वही, पृष्ठ संख्या–127

55. वही, पृष्ठ संख्या–116

56. धूमिल– संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2006 संस्करण, पृष्ठ संख्या– 127

57. प्राथमिक स्रोतः कुमार विकल कविताएं– आधार चयन द्वितीयक स्रोतः अच्युतानन्द मिश्र– नक्सलबाड़ी आन्दोलन और हिन्दी कविता, पृष्ठ संख्या–46

58. सं0 वीर भारत तलवारः नक्सलबाड़ी के दौर में, अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2007 पृष्ठ संख्या–564

59. बेला भाटिया– नक्सलवादी बनते दलित, सं0– अभय कुमार दुबेः आधुनिकता के आइने में दलित, वाणी पकाशन नई दिल्ली, 2007 संस्करण, पृष्ठ संख्या–338

60. धनश्याम शाह' अस्मिताओं को सहअस्तित्व, वही, पृष्ठ संख्या– 208

61. वही, पृष्ठ संख्या–209

62. अजय कुमार–दलित पैंथर आंदोलन, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, 2006 संस्करण, पृष्ठ संख्या–88

63. वही, पृष्ठ संख्या–51

64. वही, पृष्ठ संख्या–52

65. निरंजन कुमार– मनुष्यता के आईने में दलित साहित्य का समाजशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 2010, पृष्ठ संख्याः 68

66. सं0 श्री कैलाश चन्द्र सेठ, श्रीमती भारती नरसिंहमन– बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय खंड–1, चतुर्थ संस्करण 2011, पृष्ठ संख्याः 77–78

67. सं0 कंवल भारतीः दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2006, पृष्ठ संख्या–107

68. ओम प्रकाश बाल्मीकि– बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997, पृष्ठ संख्या–20

69. सं0 मलखान सिंह–सुनो ब्राह्माण, पृष्ठ संख्या–20

70. सं0 अनुज कुमारः बहुजन नायक कांशीराम के अविस्मरणीय भाषण, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली द्वितीय संस्करण– 14 अप्रैल 2007, पृष्ठ संख्या–46

71. संयुक्त राष्ट्र ने चौंका देने वाले कुछ आंकड़ों और निष्कर्षों के साथ एक रिर्पोट जारी की है। इसमें कहा गया है कि भारत में दलित और खासकर दलित महिलाएं पूरी तरह से हाशिए पर धकेल दी गई हैं। संयुक्त राष्ट्र की 'विश्व सामाजिक स्थिति रिर्पोट 2010' में कहा गया है कि भारत, नेपाल और पाकिस्तान के समाज में जाति आधारित व्यवस्था के कारण निचली जाति के लोग बहिष्कार के शिकार हैं।

    स्रोतः जनसत्ता 'संयुक्त राष्ट्र की रिर्पोट' 1 फरवरी 2010

72. ओमप्रकाश बाल्मीकि– सदियों का संताप, पृष्ठ संख्या–33

73. कुल अट्ठासी में एक भी नहीं। यह आंकड़ा है देश की शीर्ष नौकरशाही में दलित अफसरों की मौजूदगी का। देश को चलाने वाली शीर्ष नौकरशाही यानी केंद्र सरकार में सचिव स्तर पर नियुक्त अफसरों की संख्या के बारे में यह आंकड़ा केंद्रीय कार्मिक और प्रशिक्षण राज्यमंत्री पृथ्वीराज चव्हाण ने पिछले दिनों लोकसभा में पेश किया।

:सम्पादकीय– दिलीप मंडलः शिखर पर सन्नाटा, जनसत्ता, 5 फरवरी 2010

74. अजय बोस – बहनजी, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, अनुवाद, पूनम कौल, प्रथम संस्करण– 2008, पृष्ठ संख्याः 258–259

75. मलखान सिंह– सुनो ब्राह्माण, पृष्ठ संख्या–11

76. कंवल भारती– दलित साहित्य की अवधारणा, पृष्ठ संख्या–30

77. सं0 रमणिका गुप्ताः दलित–चेतनाः सोच, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग बिहार, प्रथम संस्करण– 1998, पृष्ठ संख्या– xx

78. जय प्रकाश लीलवान– अब हमें ही चलना है, पृष्ठ संख्या–54

79. मलखान सिंह– सुनो ब्राह्माण, पृष्ठ संख्या– 23

80. जय प्रकाश लीलवान– अब हमें ही चलना है, पृष्ठ संख्या–32

81. कंवल भारती– तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती? पृष्ठ संख्या–33

82. जय प्रकाश लीलवान– समय की आदमखोर धुन, पृष्ठ संख्या–67–68

83. कंवल भारती–तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती? पृष्ठ संख्या– 39–40

84. जातियों का राजनीतिकरण– रजनी कोठारी की थीसिस

देखिए– सं0ः अभय कुमार दुबे– भारत में राजनीति कल और आज, राजनीति की किताब

85. जय प्रकाश लीलवान– समय की आदमखोर धुन, पृष्ठ संख्या– 119

86. कंवल भारती– हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, पृष्ठ संख्या–45

87. ओमप्रकाश बाल्मीकि–सदयों का संताप, पृष्ठ संख्या–19

88. कंवल भारती– डॉ0 अम्बेडकर एक पुनर्मूल्यांकन, बोधिसत्व प्रकाशन रामपुर (उ0 प्र0), संस्करण–1997 पृष्ठ संख्या–95

89. जय प्रकाश लीलवान, समय की आदमखोर धुन, पृष्ठ संख्या–78

90. ओमप्रकाश बाल्मीकि– शब्द झूठ नहीं बोलते, पृष्ठ संख्या–62–63

91. सं0 कंवल भारती– दलित निर्वाचित कविताएं, पृष्ठ संख्या–145

92. जय प्रकाश लीलवान– समय की आदमखोर धुन, पृष्ठ संख्या–42

93. वही, पृष्ठ संख्या–46

94. वही, पृष्ठ संख्या–66

95. मलखान सिंह–सुनो ब्राह्माण, पृष्ठ संख्या–36

96. ओम प्रकाश बाल्मीकि– शब्द झूझ नहीं बोलते, पृष्ठ संख्या–51

97. सं0 कंवल भारती–दलित निर्वाचित कविताएं, पृष्ठ संख्या–103

सिंहावलोकन

उत्पीड़न का जितना पुराना है, उतना पुराना इतिहास उसके प्रतिरोध का भी है। प्रतिरोध की इसी परंपरा से दलित कविता व दलित राजनीति का उद्‌भव और विकास हुआ है। दलित कविता व दलित राजनीति में गहरा सम्बन्ध है। दोनों ने एक–दूसरे को प्रेरित–प्रभावित किया है। इससे दलितों के जीवन में परिवर्तन आया है। साहित्य और राजनीति को लेकर उनकी एक समझ बनी है। उन्हें एहसास हो रहा है कि साहित्य और राजनीति को सोचने समझने के साथ परिवर्तन का ज़रिया भी बनाया है। साहित्य और राजनीति में उनकी दख़ल इस बात का सबूत है। दलित कविता में जो कवि सक्रिय हैं वे दलित आंदोलन में भी सक्रिय रहे हैं। यही सच दलित राजनीति का भी है। कारण, दलित कविता व दलित व दलित राजनीति, दोनों ही दलित आंदोलन की देन हैं।

दलित कविता में दलित जीवन की तल्ख़ सचाईयों की अभिव्यक्ति हो रही है। दलित कविता दलितों के यथार्थ और आकांक्षाओं की कविता है। इन कविताओं में उनकी बेहतरी का सपना साँस लेता हैं चुनांचे दलित कविता जीवंत कविता है। आज दलित कविताओं का दायरा बढ़ रहा है। वह तमाम उत्पीड़ितों से संवाद कायम करने की कोशिश कर रही हैं। जाति इस रास्ते में बहुत बड़ी बाधा है, किन्तु दलित कवि इस सच का भी समझ रहा है कि जाति यर्थाथ नहीं बल्कि सत्ता द्वारा निर्मित छद्‌म चेतना है। सत्ता समाज में विभाजन किए बगैर क़ायम नहीं रह सकती। दलित कविता सत्ता की इस निर्मिति को तोड़नें में लगी हुई है। अन्य उत्पीड़ित समुदायों को भी इसमें भागीदारी करनी चाहिए चाकि ताकि दलित कविता कांति का दस्तावेज़ बन सके।

दलि राजनीति तमाम अटकलों के बीच सत्ता की दहलीज तक पहुँची है। तमाम मुश्किलों से दो–चार होते हुए उसने अपना रास्ता तैयार किया है। बहुजन समाज पार्टी ने उत्तर प्रदेश में चार बात अपनी सरकार बनायी है। फिलहाल वह सत्ता में नहीं है मगर राजनीति में उसका क़द लगातार बढ़ा है। बसपा की अभी तक की यात्रा बहुजन से सर्वजन तक की यात्रा है। अगर आंकड़ों के हिसाब से सरकार का आकलन किया जाता है तो बसपा के कार्यकाल में उत्तर प्रदेश की समग्र घरेलू विकास दर (जी0 डी0 पी0) भारत सरकार की जी0 डी0 पी0 से कहीं ज्यादा रही है। 11 वीं पंचवर्षीय योजना (2007 से 2012) में उत्तर प्रदेश की जी0 डी0 पी0 लक्ष्य 6.10 प्रतिशत रखा गया था। मगर वह अनुमान से कहीं ज्यादा 7.28 प्रतिशत रही। जब पूरा देश आर्थिक मंदी की मार से जूझ रहा था तब भी उत्तर प्रदेश की समग्र घरेलू विकास दर (जी0 डी0 पी0) 7 प्रतिशत थी। 2010 से 2011 के बीच यह 8.08 प्रतिशत रही।[95] इस आधार पर बसपा ने प्रदेश में उल्लेखनीय काम किया है। इसके बावजूद मुख्य धारा की राजनीति द्वारा बसपा को लगातार बदनाम किया जाता रहा है।

---

[95] स्रोतः www.wikipedia.com,

हम जानते हैं कि आंकड़ों से सरकारें चलती हैं, देश नहीं। फिर भी बहुजन समाज पार्टी के पाँच वर्षीय कार्यकाल में विकास हुआ है। बसपा को अपने सरोकारों को लेकर अपने ऐजेण्डे में और पारदर्शिता लानी होगी। बसपा यदि सामाजिक परिवर्तन की राजनीति कर रही है तो उसे अपने सर्वजन के ऐजेण्डे को साफ करके उसमें उत्पीड़ित समुदायों को प्राथमिकता देनी होगी। बसपा के सांस्कृतिक आंदोलन से दलित समुदाय में चेतना का प्रसार हुआ है। जैसा कि हम जानते हैं राजनीति में हितों का स्थान सर्वोच्च होता है, मगर वे हित किसकें हैं यह बात सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण होती है। वे हित तमाम उत्पीड़ितों के हैं या चंद नेताओं? इसी से राजनीति के निहितार्थ तय होते हैं। इसी से पता चलता है कि राजनीति सत्ता की है या जनता की। दलित राजनीति के निहितार्थ भी इसी से तय होगें। और यह आने वाले वक्त में उत्पीड़ित जनता तय करेगी।

दलित कवित व दलित राजनीति लम्बा रास्ता तय कर चुके हैं। यदि दलित राजनीति के अब तक के राजनीतिक सफर में कोई कमी य सीमा नजर आती है, तो दलित कविता को उसकी नोटिस लेनी चाहिए और उसे दिशा देनी चाहिए। जनता का साहित्य और जनता की राजनीति दोनों ज़रूरत पड़ने पर एक–दूसरे को ठीक करतें है। प्रेमचंद ने साहित्य को राजनीति के आगे चलने वाली सचाई की मशाल कहा था। दलित कविता को वह मशाल बनना होगा। आज की दलित कविता राजनीतिक कविता है। मगर दलित कविता कों इसमें और साफ़गोई लानी चाहिए। वह धीरे–धीरे इस तरफ बढ़ रही है।

ब्राह्णवाद और पूंजीवाद के गठजोड़ ने उत्पीड़ितों के जीवन को और कठिन बना दिया है। आज शोषण को बारीकी मिली है। दलित कविता उसी को पकड़ने की कोशिश कर रही है। साहित्य का काम है समाज की जटिलता को रेखांकित करना चुनांचे जैसे–जैसे समाज में जटिलता बढ़ती है ठीक वैसे ही साहित्य की गतिशीलता भी। आज की दलित कविता इसका प्रमाण है। दलित कविता मुक्ति की कविता हैं। इतना तो तय है कि दलित अकेले मुक्त नहीं हो सकते। इसके लिए उन्हें तमाम उत्पीड़ित तबकों को साथ लेना होगा। दलित कविता में यह मुहिम शुरू हो चुकी है। आज दलित कविता तमाम उत्पीड़ित तबकों का आह्वान कर रही है। दलित कवि ओमप्रकाश बाल्मीकि कहते हैं:

"अभी भी वक्त है

सिसकती आवाजों को सुनो

दुर्दिनों की लड़ाईयां अकेले नहीं लड़ी जाती

मिलकर लड़ना होता है।"–[96]

तमाम उत्पीड़ित तबकों को चाहिए कि वह दलित कविता की इस मुहिम में सामिल होकर उसका साथ दें। आज जरूरत है कि स्त्री, दलित, आदिवासी, किसान, मज़ेदूर और

[96] ओमप्रकाश बाल्मीकि, महायुद्ध (कविता), दलित साहित्य वार्षिकी–2006, सं0 –जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ संख्या 338

अल्पसंख्यक तबके एक साथ मिलकर लड़ाई लड़े। अकेले तो कोई मुक्त नहीं हो सकता। एक साथ मिलकर लड़ने से ही भविष्य में मुक्ति का महाआख्यान रचा जाएगा।

आधार, सन्दर्भ व सहायक ग्रंथ सूची

1. ओमप्रकाश बाल्मीकि, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2008
2. कंवल भारती, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ0 प्र0) प्रथम संस्करण 1996
3. जय प्रकाश लीलवान, अब हमें ही चलना है, दलित साहित्य प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002
4. मलखान सिंह, सुनो ब्राह्माण, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ0 प्र0), द्वितीय संस्करण–1997

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अनामिका (सं0), कहती हैं औरतें, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण 2007
2. अजय बोस, बहन जी, अनुवादः पूनम कौल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008
3. अच्युतानन्द मिश्र, नक्सलबाड़ी आंदोलन और हिन्दी कविता, सं0 किशन कालजयी, संवेद फाउण्डेशन, दिल्ली, संस्करण जून 2009
4. अजय कुमार, दलित पैंथर आन्दोलन, सं0 एस0 एस0 गौतम, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली संस्करण 2006
5. अभय कुमार दुबे सं0– राजनीति का किताब, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2007
6. अभय कुमर दुबे सं0– आधुनिकता के आइने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2007
7. अनुज कुमार सं0– बहुजन नायक कांशीराम के अविस्मरणीय भाषण, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2007
8. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण–2008
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– चिन्तामणि (1), ए0 टू0 जेड0 पब्लिकेशन, इलाहाबाद, संस्करण 2001
10. आर0 के0 प्रभु एवं यू0 आर0 राव0 सं0 – महात्मा गांधी के विचार, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, संस्करण 2011
11. आनन्द तेलतुम्डे डॉ0, उत्तर अम्बेडकर समय में दलित आन्दोलन, दलित मुक्ति संगठन, करनाल, प्रथम संस्करण 2005
12. ओम प्रकाश कश्यप सं0 बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर संपूर्ण वाड्.मय खण्ड–16, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, संस्करण 2000.

13. ओमप्रकाश बाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011
14. ओमप्रकाश बाल्मीकि, बस्स!बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997
15. ओमप्रकाश बाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
16. ओमप्रकाश बाल्मीकि, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2008
17. उमाशंकर चौधरी, दलित विमर्शः कुछ मुद्दे, कुछ सवाल, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण–2011
18. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' पो0, हिन्दी सर्वदर्शन संग्रह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी–1, संस्करण 2006
19. ए0 आर0 देसाई, भारतीय राष्टवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, अनुवादः पज्ञादत्त त्रिपाठी, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, संस्करण 1999
20. एल0 जी0 मेश्राम 'बिमलकीर्ति' सं0, महात्मा ज्योतिबा फूले रचनावली (1), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2009
21. के दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, अनुवादः जी0 श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 2001
22. कँवल भारती, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ0 प्र0) प्रथम संस्करण– 1996
23. कँवल भारती, डॉ0 आम्बेडकर एक पुनर्मूल्यांकन, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ0 प्र0) प्रथम संस्करण 1997
24. कँवल भारती, दलित कविता का संघर्ष, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
25. कँवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ0 प्र0), प्रथम संस्करण 2006
26. कँवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, इतिहासबोध प्रकाश, इलाहाबाद, संस्करण 2007
27. कँवल भारती, हिन्दी क्षेत्र की दलित राजनीति और साहित्य, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ0 प्र0) प्रथम संस्करण– 2006
28. कंवल भारती, समाजवादी आंबेडकर, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009
29. कँवल भारती सं0, चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु रचना–संचयन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
30. कँवल भारती सं0, स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' संचयिता, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011

31. कँवल भारती सं0, दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2006
32. कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, कम्युनिस्ट पार्टी का धोषणापत्र, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, द्वितीय संस्करण 2007
33. कैलाश चन्द्र सेठ सं0 बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय खंड 10, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2011
34. कैलाश चन्द्र सेठ, श्रीमती भारती नरसिंहमन सं0, बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण बाड्.मय खंड 1, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 2011
35. कैलाश चन्द्र सेठ, श्रीमती भारती नरसिंहमन सं0, बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण बाड्.मय खंड 5, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2011
36. गोपेश्वर सिंह सं0, भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, भारतीय प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 2009
37. गिओर्गी प्लेखानोव, कला के सामाजिक उद्गम अनुवादः विश्वनाथ मिश्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003
38. जय प्रकाश लीलवान, अब हमें ही चलना है, दलित साहित्य प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002
39. जय प्रकाश लीलवान, समय की आदमखोर धुन, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009.
40. जय प्रकाश कर्दम, गूंगा नहीं था मैं, सागर प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण 2006
41. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, अनुवाद– कन्हैया, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2007
42. देवेन्द्र चौबे सं0 साहित्य का नया सौन्दर्यशास्त्र, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006
43. धूमिल–संसद के सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006
44. निरंजन कुमार– मनुष्यता के आइने में दलित साहित्य का समाजशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010
45. फ्रेडरिक एंगेल्स, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण
46. पाब्लो नेरूदा, हां, मैंने जिंदगी जी है, अनुवादः मनीषा तनेजा, कॉन्फ्लुएंस इंटरनेश्नल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007
47. प्रणयकृष्ण सं0 समय का पहिया, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पहला संस्करण 2004
48. प्रवेश कुमार– दलित अस्मिता की राजनीति, मानक पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
49. प्रेमचंद, प्रेमचंद के विचार (2), प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 2008
50. बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां, अनुवादः मोहन थपलियाल, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, तृतीय संस्करण 2002

51. मलखान सिंह, सुनो ब्राह्मण, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर (उ0 प्र0), द्वितीय संस्करण 1997
52. माओत्से–तुड. की रचनाएं प्रतिनिधि चयन, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, संस्करण 2004
53. माता प्रसाद (सं0), हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2008
54. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
55. मैनेजर पाण्डे, अनभै साँचा पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2002
56. रमणिका गुप्ता सं0, दलित–चेतनाः सोच, नवलेखन प्रकाशन, बिहार, प्रथम संस्करण 1998
57. रामविलास शर्मा सं0, रागविराग, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2008
58. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009
59. रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्रचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण 2009
60. राजकिशोर सं0, दलित राजनीति की समस्याएं, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2008
61. लाल बहादुर वर्मा, इतिहास के बारे में, साहित्य उपक्रम, संस्करण 2010
62. वीर भारत तलवार, हिन्दू नवजागरण की विचारधारा, (सत्यार्थ प्रकाशः समालोचना का एक प्रयास),भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान राष्ट्रपति निवास शिमला, प्रथम संस्करण 2001
63. विवेक कुमार डॉ0, बहुजन समाज पार्टी एवं संरचनात्मक परिवर्तन, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2007
64. वीर भारत तलवार सं0, नक्सलबाड़ी के दौर में, अनानिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007
65. व्ला0 इ0 लेनिन संकलित रचनाएं, खंड 1, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण– 1988
66. शरण कुमार लिंबाले डॉ0 दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, अनुवादः रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
67. डॉ0 श्यामसुंदर दास सं0 कबीर ग्रंथावली, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008
68. डॉ0 शुकदेव सिंह सं0, रैदास बानी, राधाकृष्ण प्रकाशन, न्ई दिल्ली, संस्करण 2006
69. श्यौराज सिंह बेचैन सं0 मूकनायक (डॉ0 अम्बेडकर), गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008

70. सत्य प्रकाश मिश्र सं0 प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबन्ध, ज्योति प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 2003
71. सुमित सरकार, आधुनिक भारत (1885–1947), अनुवादः सुशीलाः डोभाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
72. सुवीरा जायसवाल, जातिवर्ण व्यवस्था, अनुवादः आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा0 लि0 दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण 2004
73. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2007
74. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2007
75. हरिनारायण ठाकुर, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2010

सहायक ग्रंथ सूची

1. असंगघोष, खामोश नहीं हूँ मैं, तीसरा पक्ष प्रकाशन, जबलपुर पहला संस्करण 2001
2. अभय कुमार दुबे सं0, लोकतंत्र के सात अध्याय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2005
3. अभय कुमार दुबे सं0, सत्ता और समाज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2009
4. अभय कुमार दुबे सं0, भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2007
5. अभय कुमार दुबे सं0, भारत में राजनीतिः कल और और आज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 2010
6. आचार्य अश्वघोष, बज्रसूची उपनिषद, अनुवादः भन्ते ग0 प्रज्ञानन्द, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण
7. आनंद तेलतुम्बडे, सत्ता समाज और दलित, अनुवादः अवधेश कुमार सिंह, ग्रंथ शिल्पी, इंडिया प्रा0 लि0 दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
8. ईश कुमार गंगानिया, हार नहीं मानूंगा, सूरज प्रकाशन, शाहदरा दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2007
9. ईश कुमार गंगानिया, अम्बेडकरवादी आलोचना के प्रतिमान, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006
10. ईश्वरी प्रसाद, शूद्र राजनीति का भविष्य, ग्रामीण साहित्य माला, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999
11. उमाशंकर चौधरी सं0 हाशिए की वैचारिकी, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012

12. उमाशंकर चौधरी सं0 हिस्सेदारी के प्रश्न–प्रतिप्रश्न, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
13. एल0 जी0 मेश्राम 'विमलकीर्ति' सं0, महात्मा ज्योतिबाफूले रचनावली (2), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
14. ए0 एल0 बाशम, अद्भुत भारत, अनुवादः वेंकटेश चन्द्र पाण्डेय, श्विलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, संसोधित हिन्दी संस्करण
15. एस0 एस0 गौतम सं0 भारतीय संस्कृति में दलितों और शूद्रों का योगदान, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
16. एस0 एस0 गौतम सं0, भारतीय राजनीति में वंशवाद, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
17. डॉ0 एन0 सिंह, दलित साहित्य परंपरा और विन्यास, साहित्य संस्थान, गाजियावाद, संस्करण 2011
18. एम0 एन0 श्रीनिवासन, आधुनिक भारत में जाति, अनुवादः रश्मि चौधरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012
19. ओमप्रकाश बाल्मीकि, अब और नहीं..., राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2009
20. श्री ओम प्रकाश कश्यप सं0, बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्.मय खंड–2, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, संस्करण 2000
21. अतोनियो ग्राम्शी, सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, अनुवादः कृष्णकान्त मिश्र, ग्रंथ शिल्पी, प्रथम हिन्दी संस्करण 2002
22. प्रो0 अंगने लाल एंव डॉ0 राहुल राज, उत्तर प्रदेश में दलित आन्दोलन, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
23. कंवल भारती, जाति धर्म और राष्ट्र, उद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005
24. कंवल भारती, मायावती और दलित आन्दोलन, रमणिका फाउण्डेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004
25. कंवल भारती, दलित चिंतन में इस्लाम, साहित्य उपकम, संस्करण दिसम्बर 2010
26. कांचा इलैया, मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ, अनुवादः मुकेश मानस, आरोही बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पहला संस्करण 2003
27. किशन पटनायक, भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
28. कैलाश चन्द्र सेठ, श्री मोहनदास नैमिशराय सं0 बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय खण्ड 6, डॉ0 अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1998
29. श्री कैलाश चन्द्र सेठ, श्री मोहनदास नैमिशराय, सं0 बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाड्.मय खंड 9, डा0 आम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1998

30. धनश्याम शाह, भारत में सामाजिक आंदोलन, अनुवादः हरिकृष्ण रावत, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण 2009
31. गोपाल प्रधान सं0, धर्म की मार्क्सवादी अवधारणा (गोरख पाण्डेय), समकालीन प्रकाशन पटना, प्रथम संस्करण 2003
32. चन्द्र भान प्रसाद, भारतीय समाज और दलित राजनैतिक, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, संस्करण 2006
33. जय प्रकाश कर्दम, तिनका तिनका आग, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004
34. टेरी ईगलटन, मार्क्सवाद और साहित्यालोकन, अनुवादः वैभव सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम पेपरबैक संस्करण 2006
35. टॉमवुल्फ, फूले अपने ही शब्दों में, अस्पायार प्रकाशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010
36. तेज सिंह, अंबेडकरवादी साहित्य की अवधारणा, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2012
37. दवेन्द्र चौबे, आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, ओरिएंट ब्लैक स्वॉन प्रा0 लि0, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009
38. देवेन्द्र चौबे, आलोचना का जनतंत्र, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण 2011
39. देवराज चानना, प्राचीन भारत में दास प्रथा, अनुवादः डॉ0 शम्भू दत्त शर्मा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण 2009
40. दीपक कुमार, देवेंद्र चौबे (सं0) हाशिए का वृतांत, आधार प्रकाशन, पंचकुला हरियाणा, प्रथम संस्करण 2011
41. धनंजय कीर, डॉ0 बाबा साहब आंबेडकर (जीवन चरित्र), अनुवादः गजानन सुर्वे, पॉप्युलर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011
42. डॉ0 धर्मवीर, कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
43. नीलकान्त, रामचन्द्र शुक्ल नया दृष्टिकोण, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2010
44. नामवर सिंह सं0 नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2007
45. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2007
46. पंकज बिष्ट सं0 धर्मः प्रासंगिकता के सवाल, समयांतर प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण 2006
47. पी0 एन0 सिंह, अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, प्रथम संस्करण 2009

48. डॉ0 प्रेमशंकर, नयी कविता नया मूल्यांकन, अयन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998
49. बेलिंस्की, हर्जन, चेनी शेवस्की, दोब्रोल्युबोव, दर्शन साहित्य और आलोचना अनुवादः नरोत्तम नागर, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण फरवरी 2004
50. भगत सिंह, मैं नास्तिक क्यों हूँ, अनुवादः पंकज चर्तुवेदी, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2006
51. मनुस्मृति, टीकाकारः प0 जनार्दन झा, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, संस्करण 2011
52. मनुस्मृति, अनुवादः पं0 ज्वाला प्रसाद चर्तुवेदी, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार, पांचवां संस्करण 2000
53. महर्षि दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली 72 वां संस्करण 2009
54. मणिमाला सं0 धर्मानतरण जरा सी जिन्दगी के लिए, बुक्स फॉर चेन्ज, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण अप्रैल 2003
55. महात्मा गाँधी, हिन्दू धर्म क्या है?, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण 2009
56. मार्क्स, एंगेल्स, धर्म के बारे में, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, पहला संस्करण 2008
57. कांशीराम, चमचा युग, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, संस्करण 2008
58. मुद्राराक्षस, धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ, साहित्य उपक्रम, तृतीय संस्करण जनवरी 2009
59. मुकामला नागभूषण, शतावतार, अनुवादः चर्ल जर्नादनस्वामी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1992
60. रामशरण शर्मा, भारत में आर्यों ाक आगमन, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण 2003
61. रामशरण शर्मा, भारतीय सामंतवाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
62. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, अनुवादः प्रो0 पूरनचंद्र पंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
63. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एंव संस्थाएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010
64. राहुल सांकृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन, किताब महल इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण 2011
65. राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध दर्शन, किताब महल इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण 2012
66. रावसाहेब कसबे, आंबेडकर और मार्क्स, अनुवादः उषा वैरागकर आठले, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण 2009
67. राजकिशोर, जाति कौन तोड़ेगा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2002
68. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2009
69. रंगनायकम्मा, 'जाति' प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफी नहीं, अम्बेडकर भी काफी नहीं, मार्क्स जरूरी हैं, अनुवादः सी0 एल0 गुप्ता, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ, पहला संस्करण 2008

70. डॉ0 लल्लन राय, हिन्दी की प्रगतिशील कविता, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण 1989
71. विमल थोरात, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008
72. विजय कुमार, अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ दूसरा संस्करण 2010
73. विधाभूषण रावत, अंबेडकर, अयोध्या और दलित आंदोलन, दानिश बुक्स, दिल्ली, पहला संस्करण 2006
74. विश्वनाथ सं0, हिंदू समाज के पथ भ्रष्टक तुलसीदास, विश्व विजय प्रा0 लि0, नई दिल्ली, तेहरवां संस्करण 2009
75. विधाभूषण रावत सं0 तर्क के योद्धा : भारत में भौतिकवाद, अनीश्वरवाद और मानववाद की परंपरा, दानिश बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011
76. डॉ0 विवेक कुमार, प्रजातंत्र का विराधाभास, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
77. शिव प्रसाद लाल, अमर कथा (महाकाव्य), दि हिन्दुस्तान ऑफसैट प्रिन्टर्स, ज्वालापुर हरिद्वार प्रथम संस्करण 2000
78. शिव कुमार मिश्र, भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2005
79. श्यौराज सिंह बेचैन सं0 बहिष्कृत भारत (डॉ0 अम्बेडकर), गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008
80. शिव कुमार मिश्र, सं0 मार्क्सवाद और साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2001
81. सूरजपाल चौहान, क्यों विश्वास करूँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2004
82. डॉ0 सुभाष चन्द्र, जाति क्यों नहीं जाति?, उद्‌भावना प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2006
83. सर्वेश कुमार मौर्य सं0, हिन्दी दलित एकांकी संचयन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
84. सर्वेश कुमार मौर्य, यर्थाथ और हिन्दी दलित साहित्य, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012
85. हरकिशन सिंह सन्तोषी सं0 दलितों के दलित, सत्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
86. हसन इमाम, जोस कलापुरा, दलित लोकगाथाओं में प्रतिरोध, दानिश बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण दिसम्बर 2009
87. श्रीपाद अमृत डांगे, भारतः आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक, अनुवाद–आदित्य मिश्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2008

सहायक ग्रंथ अँग्रेजी

1- **Anand Teltumbde, The Persiestence of caste, Navayana Publishing, New Delhi, Edition – 2008**
2- **Christophe Jaffrelate, India's Silent Revalution: The vise of the Low Castes in north Indian Politics, Permanent Black, Delhi, Edition 2008**
3- **Kancha laith, God as Political Philoshopher: Buddha's Challenge to Brahminism, Samya Publication, July 2004 Edition**
4- **Marx, Engels, On Literlature and Art, Progess Publishers, Mascow, 1978 Edition**
5- **Pradeep Kumar Sharma, Dalit Politics and Literature, Shipra Publication, Delhi, Eirst Edition 2006**

पत्र–पत्रिकाएं

1. आजकल, सं0 प्रवीण उपाध्याय, फरवरी 2007 अंक
2. अम्बेडकर इन इण्डिया, सं0 कांति कुमार निगम, अंक 59, 2006
3. कथा देश, सं0 हरिनारायण, नवम्बर 2011
4. तद्भव, विशेष प्रस्तुतिः दलित वैचारिकी की दिशाएं, सं0 अखिलेश
5. दलित साहित्य वार्षिकी, 2004, सं0 डॉ0 जय प्रकाश कर्दम
6. दलित साहित्य वार्षिकी, 2011, सं0 डॉ0 जय प्रकाश कर्दम
7. दलित साहित्य वार्षिकी, 2012, सं0 डॉ0 जय प्रकाश कर्दम, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद
8. दलित अस्मिता, सं0 विमल थोरात, अप्रैल–जून 2011
9. दलित अस्मिता, सं0 विमल थोरात, जुलाई–दिसम्बर 2011
10. फॉरवर्ड प्रेस 'बहुजन साहित्य वार्षिकी, सं–आयवन कोस्का, अप्रैल 2012
11. वर्तमान साहित्य, सं0 नमिता सिंह, अप्रैल 2010
12. शब्दयोग 'दलित लेखन विशेषांक' सं0 सुभाष पंत, सितम्बर 2009
13. हंस 'सत्ता और दलित विशेषांक' सं0 राजेन्द्र यादव, अगस्त 2004
14. जनसत्ता 'संयुक्त राष्ट्र की रिर्पोट' 1 फरवरी 2010
15. जनसत्ता, संपादकीय दिलीप मण्डल, 5 फरवरी 2010
16. समयांतर, सं0– पंकज बिष्ट, फरवरी 2008 अंक